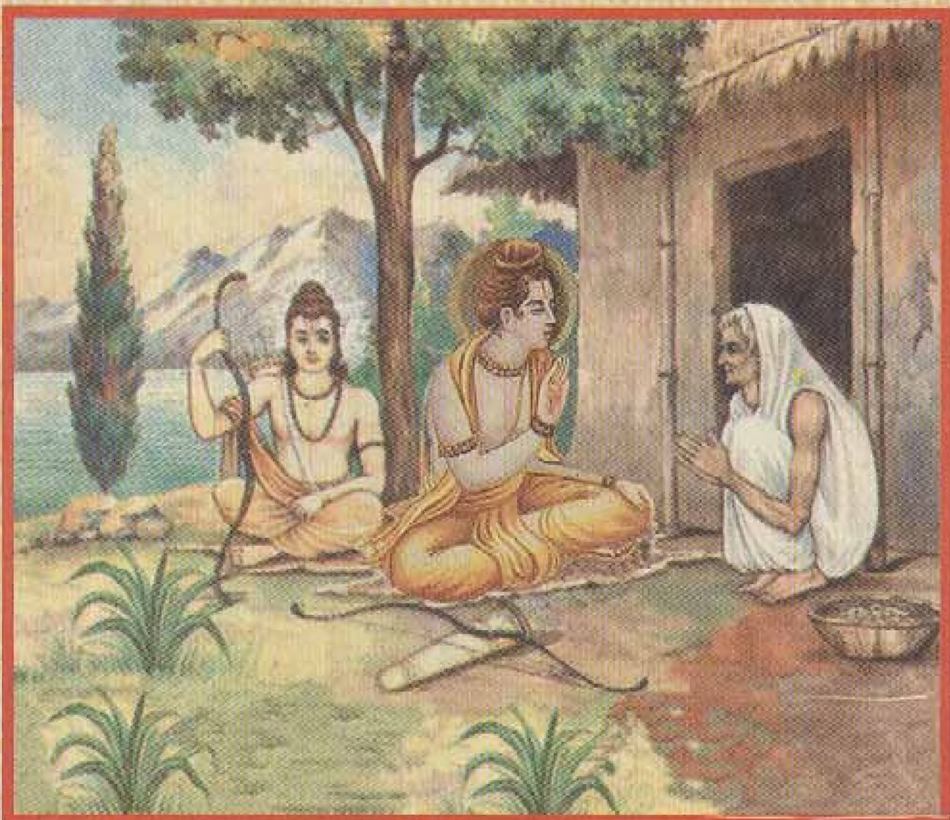


नवधा भक्ति

प्रथम भाग

परमपूज्यपाद श्री रामकिंकर जी महाराज

नवधा भक्ति

(प्रथम भाग)

प्रवचनकार

परम पूज्यपाद श्री रामकिंकरजी महाराज

बिरला अकादमी आफ आर्ट एण्ड कल्चर, कलकत्ता

प्रकाशक : बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर
१०८/१०९ सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता–२९

सम्पादक : नंदकिशोर स्वर्णकार
मूल्य : पैंतीस रुपये
संस्करण : रामनवमी, संवत् २०५८
मुद्रक : सरस्वती प्रिंटर्स,
गांधी नगर, दिल्ली–११००३१

।।श्री रामः शरणं मम।।

रामकिंकर
"रामायणम्"
जानकी घाट, परिक्रमा मार्ग,
श्रीधाम, अयोध्या–२२३ १२३

प्राक्कथन

प्रभु श्रीरामभद्र एवं करुणामयी श्री किशोरीजी की महती अनुकम्पा से "नवधा भक्ति" का प्रथम भाग आपके हाथ में है। 'बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर' द्वारा आयोजित ये प्रवचन भगवान लक्ष्मीनारायण मंदिर (बिड़ला मंदिर) दिल्ली के पवित्र प्रांगण में वर्ष २००१ में दिये गये।

इस आयोजन के यजमान बिरला दम्पत्ति श्री बसंत कुमारजी बिरला एवं सौजन्यमयी डा. श्रीमती सरलाजी बिरला ने विगत वर्ष यह प्रसंग चुना और इसको पूरा करने का आग्रह भी किया, किन्तु मेरी प्रकृति ऐसी है कि विषय को पूरा करना मेरे हाथ की बात नहीं होती, जब, जैसा और जितना प्रभु कहलवा देते हैं मैं कह देता हूँ। इस पुस्तक में नवधा भक्ति की प्रथम पंक्ति जिसमें भगवान श्रीरामचन्द्र भक्तिमती शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं, उनमें से "**प्रथम भगति संतन्ह कर संगा**" पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही दूसरी भक्ति "**दूसरि रति मम कथा प्रसंगा**" को भी स्पर्श किया है। जब प्रभु चाहेंगे तब यह प्रसंग पूरा होगा।

इस आयोजन और प्रकाशन के पीछे श्री बसंतकुमारजी बिरला और डा. श्रीमती सरलाजी बिरला की श्रद्धा भावना रही है। इनकी यह हार्दिक इच्छा रहती है कि इन प्रवचनों का लाभ अधिक से अधिक

लोगों तक पहुँचाया जा सके। इसी सद्भावना का प्रतिफल है यह प्रकाशन। इन दोनों को मेरा हार्दिक आशीर्वाद।

श्री नन्दकिशोर स्वर्णकार का योगदान इस कार्य में विशेष महत्व का रहता है। 'टेप' से लिपिबद्ध कर सम्पादन तथा 'प्रूफ रीडिंग' का कार्य भी स्वयं कर ये पुस्तक को समय पर प्रकाशित करने की स्थिति तक ले आते हैं।

श्री टी.सी. चोरडिया की सेवाओं को याद करना आवश्यक है। समस्त व्यवहारिक एवं व्यवसायिक कार्यों को देखते हुये भी ये इसको स्वयं ध्यान से कराते हैं।

सभी को मेरा हार्दिक आशीर्वाद।

रामकिंकर

।।श्री रामः शरणं मम।।

अनुक्रम

।। श्री रामः शरणं मम ।।

१

ताहि देइ गति राम उदारा।
सबरी कें आश्रम पगु धारा।।
सबरी देखि राम गृह आए।
मुनि के बचन समुझि जियँ भाए।।
सरसिज लोचन बाहु बिसाला।
जटा मुकुट सिर उर बनमाला।।
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई।
सबरी परी चरन लपटाई।।
प्रेम मगन मुख बचन न आवा।
पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।।
सादर जल लै चरन पखारे।
पुनि सुंदर आसन बैठारे।।
कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि।।३/३४

कोटि काम–कमनीय भगवान श्री रामभद्र और अनंत करुणामयी एवं वात्सल्यमयी मां सीताजी की असीम अनुकंपा से पुनः इस वर्ष भगवान श्री लक्ष्मीनारायण के इस पवित्र प्रांगण में बैठकर भगवत्चरित्र की चर्चा करने का यह सुअवसर प्राप्त हुआ है। विगत अनेकानेक वर्षों से अनवरत रूप से चलने वाला यह ज्ञानयज्ञ सौजन्यमयी भक्तिमती श्रीमती सरलाजी बिरला तथा श्री बसंतकुमारजी बिरला की श्रद्धाभावना के फलस्वरूप प्रारंभ हुआ और निर्बाध रूप से संपन्न होता आ रहा है। यह क्रम निसंदेह प्रभु की अनंत कृपा का ही परिचायक है। दिल्ली के कथा–रसिक, भावुक

और जिज्ञासु श्रोताओं के समक्ष भगवत्कथा कहने में मुझे भी बड़े आनंद की अनुभूति होती है।

इस वर्ष चर्चा के लिए उन भक्तिमती शबरीजी का प्रसंग चुना गया है जिनकी स्मृति प्रभु एक क्षण के लिए भी नहीं भुला पाते। युद्ध–विजय कर भगवान राम के अयोध्या लौट आने के पश्चात् गोस्वामीजी जो वर्णन करते हैं उसमें यह बात बार–बार सामने आती है।

सामान्यतया जब कोई व्यक्ति विदेश–यात्रा से लौटता है तो लोग जिज्ञासावश उससे यह पूछते ही हैं कि 'आपने वहाँ क्या–क्या देखा, किन–किन लोगों से मिले तथा आपको कौन–कौन से विशिष्ट अनुभव हुए ?' भगवान राम तो चौदह वर्षो की लंबी अवधि के बाद अयोध्या लौटे थे। भगवान राम की सहृदयता के कारण अयोध्या में उनके अनगिनत मित्र थे। वे सब भगवान राम से जब इसी तरह के प्रश्न करते थे और भगवान राम जो उत्तर देते थे, उसे सुनकर उन सबको बड़ा आश्चर्य होता था। क्योंकि भगवान राम बार–बार एक ही बात दोहराते रहते थे। इस संदर्भ में 'गीतावली' और 'कवितावली' में बड़ा अद्भुत वर्णन पढ़ने को मिलता है।

भगवान राम की इस यात्रा में उनकी भेंट उस समय के विश्व के अग्रणी और महान् ऋषि–मुनियों से होती है। इस यात्रा में वे पहले महर्षि भरद्वाज के आश्रम में जाते हैं, फिर आगे चलकर महर्षि वाल्मीकि से उनका मिलन होता है। इसके पश्चात् जब प्रभु चित्रकूट में निवास करते हैं तो महर्षि अत्रि से उनकी भेंट होती है और दोनों के बीच एक बड़ा भाव और रसमय संवाद भी होता है। भगवान राम इस यात्राक्रम में महर्षि अगस्त्य जैसे एक ऐसे विशिष्ट महापुरुष से मिलते हैं जो सृष्टितत्व के रहस्यों के ज्ञाता हैं और समुद्र को पी लेने में भी सक्षम हैं।

प्रभु यदि चाहते तो बड़े विस्तार से इन सब महापुरुषों से मिलने की घटनाओं का वर्णन कर सकते थे। पर गोस्वामीजी कहते हैं कि मित्रों के बार–बार पूछने पर भी प्रभु दंडकवन और चित्रकूट में इन महात्माओं

के साथ अपने मिलन और संवाद की चर्चा भूलकर भी नहीं करते, अपितु दो ही पात्रों की चर्चा वे बार–बार करते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं कि–

मिलि मुनिबृंद फिरत दंडक बन, सो चरचौ न चलाई।
बारहि बार गीध सबरी की बरनत प्रीति सुहाई।।
(विनयपत्रिका/१६५/३)

प्रभु कहते हैं कि एक तो गीधराज मिले और दूसरी शबरीजी मिलीं। भगवान गीधराज के वात्सल्य और भक्तिमती शबरीजी के फलों के स्वाद और रस को एक क्षण के लिए भी नही भूल पाते।

गीधराज के संबंध में विदित ही है कि जब रावण सीताजी का अपहरण कर अपने साथ ले जा रहा था, उस समय उन्होंने रावण को चुनौती दी और उससे युद्ध किया। प्रारंभ में गीधराज ने रावण को कुछ समय के लिए मूर्छित भी कर दिया। पर अंत में रावण के द्वारा उनके पंख काट दिए जाने पर वे घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। इसके पश्चात् प्रभु स्वयं गीधराज के पास पहुँचे और उन्हें अपनी गोद में उठा लिया। गीधराज ने सीताजी की रक्षा के प्रयास में अपना शरीर अर्पित कर दिया और धन्य हो गए। भगवान राम ने गीधराज को अपना धाम प्रदान किया और गीधराज से बोले कि 'यदि आप मेरे धाम में जा रहे हैं तो यह मेरी किसी कृपा या उदारता के कारण नहीं, अपितु–

तात कर्म निज तें गति पाई।३/३०/८

आपने जो महानतम कार्य किया है उस कर्म का ही परिणाम है।'

गीधराजजी से भगवान राम की भेंट पहले भी हो चुकी थी जब प्रभु गोदावरी के निकट पंचवटी में श्रीसीताजी एवं लक्ष्मणजी के साथ पर्णकुटी में निवास करते थे। गीधराजजी भगवान राम के पास आते रहते थे और इस प्रकार उन्होंने सीताजी को अपहरण से पहले भी देखा था। पर शबरीजी ने सीताजी को कभी देखा ही नहीं था। क्योंकि भगवान राम लक्ष्मणजी के साथ शबरीजी के आश्रम में श्रीसीताजी से वियोग होने के बाद ही पधारते हैं। आश्चर्य होता है कि जिन शबरीजी ने सीताजी

के दर्शन तक नहीं किए हैं, भगवान राम उनसे सीताजी का पता और उन्हें पुनः पाने का उपाय पूछते हैं ! इतना ही नहीं, शबरीजी के संदर्भ में एक और भी अनोखी बात सामने आती है।

'मानस' में बहुत थोड़े से ऐसे प्रसंग हैं जहाँ प्रभु उपदेश देते हुए दिखाई देते हैं। उपदेश देने की अपेक्षा महात्माओं का उपदेश सुनना, सत्संग–श्रवण करना उन्हें अत्यन्त प्रिय है। चित्रकूट में भी बहुधा यह दृश्य सामने आता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि सीताजी ने अपने हाथों से जो वेदिका बनाई थी, भगवान राम वहाँ बैठकर प्रतिदिन मुनियों से कथा, इतिहास व शास्त्रों का श्रवण करते थे।

जहाँ बैठि मुनिगन सहित नित सिय रामु सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान।।२/२३७

पर शबरीजी के प्रसंग में भगवान राम पहले एक उपदेशक के रूप में उन्हें नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए तथा फिर एक जिज्ञासु के रूप में उनसे प्रश्न करते हुए दिखाई देते हैं।

यद्यपि शबरीजी ने प्रभु से भक्ति के विषय में कोई प्रश्न नहीं किया था पर बिना पूछे हुए भी प्रभु उनसे कहने लगे कि–

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं।।३/३४/७

'शबरी ! तुम मेरी नवधा भक्ति सुनो !' फिर इसके पश्चात् प्रभु उनसे प्रश्न करते हुए कहते हैं कि–

जनकसुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कहु करिबरगामिनी।।३/३५/१०

हे भामिनी ! मेरी प्रिया जनकनंदनी का हरण हो गया है। उन्हें ढूंढने के लिए ही मैं इस समय वन में भ्रमण कर रहा हूँ। क्या आप उनकी सुधि जानती हैं ? और यदि आपको यह ज्ञात है तो आप मुझे बताएँ कि उन्हें पुनः प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

प्रभु शबरीजी को उपदेश दें, यह बात तो ठीक लगती हैं, पर उपदेश देने के तुरंत बाद भगवान राम जिस प्रकार एक जिज्ञासु के रूप में शबरीजी से प्रश्न करते हैं, यह बात बड़ी विचित्र–सी लगती है !

भगवान राम का एक स्वभाव है कि वे महात्माओं से किसी न किसी प्रकार की जिज्ञासा व्यक्त करते हुए उनसे प्रश्न करते ही रहते हैं। महर्षि भरद्वाज से वे मार्ग के विषय में प्रश्न करते हैं। आगे चलकर वे महर्षि वाल्मीकि से अपने निवास–स्थल के विषय में और फिर महर्षि अगस्त्य से रावण–वध का उपाय पूछते हैं। ये सब महात्मागण उस काल में बड़े प्रसिद्ध और विश्ववन्द्य थे। आश्चर्य होता है कि सीताजी के हरण के पश्चात् उन्हें पाने का उपाय पूछने के लिए भगवान राम ऐसे किसी महात्मा के पास नहीं गए। इसके लिए भगवान राम ने एकमात्र शबरीजी को ही उपयुक्त पात्र माना ! यह बड़ी अनोखी बात है।

भगवान राम के प्रश्न को सुनकर शबरीजी को बड़ा संकोच होता है। वे कहती हैं– "प्रभु ! आप तो सब कुछ जानते हैं, पर जब आपने प्रश्न किया है तो फिर इस दृष्टि से मेरा यह कर्तव्य बन जाता है कि इस विषय में मैं कुछ कहूँ ! प्रभु ! मेरा आपसे अनुरोध है कि आप कृपा करके पंपासर की यात्रा करें जहाँ आपकी सुग्रीव से मित्रता होगी और उसके बाद की सारी बातें उनके द्वारा आपको ज्ञात होंगी।" भगवान राम शबरीजी के इस कथन को स्वीकार कर पंपासर की यात्रा करते हैं जहाँ ऋष्यमूक पर्वत के निकट उनकी हनुमानजी से भेंट होती है और हनुमानजी की प्रेरणा से उनका सुग्रीवजी से मिलन होता है, मित्रता होती है।

यद्यपि आगे के प्रसंग में हनुमानजी की ही भूमिका प्रमुख है, पर शबरीजी ने तो सुग्रीवजी का ही नाम लिया था, इसलिए भगवान राम शबरीजी के इस वाक्य को कितना महत्व देते हैं, यह बात बाद के प्रसंगों में स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है। आगे चलकर सुग्रीव जब अपनी आत्मकथा सुनाते हैं तो इसे सुनकर लक्ष्मणजी बहुत प्रसन्न नहीं दिखाई

देते। क्योंकि उनकी आत्मकथा में बार–बार उनकी दुर्बलता, कायरता तथा अनेकानेक कमियों का ही संकेत मिलता है। लक्ष्मणजी को विशेष रूप से सुग्रीव की यह बात अच्छी नहीं लगती कि सुग्रीव ने सीताजी का हरण होते हुए देखा, विलाप करते हुए देखा और सीताजी ने उनकी ओर देखकर कुछ आभूषण और वस्त्र–खंड भी गिराए, पर वे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे ! एक अबला को ऐसी स्थिति में देखकर भी उन्होंने उनकी कोई सहायता नहीं की। वे आश्चर्यचकित होकर सोचने लगे– 'ऐसे कायर व्यक्ति को प्रभु ने क्यों इतना सन्मान दे दिया और अपना मित्र बना लिया ?'

लक्ष्मणजी से रहा नहीं गया। उन्होंने पूछ दिया– "प्रभु ! मैं जानना चाहता हूँ कि सुग्रीव में आपको ऐसी कौन सी विशेषता दिखाई पड़ी कि वह आपकी मैत्री का अधिकारी बन गया ?" प्रभु ने कहा– "लक्ष्मण! क्या तुम इस बात को भूल गए कि भक्तिमती शबरी से मेरा मिलन हुआ था तो उन्होंने क्या कहा था ? उन्होंने मेरे पूछने पर यही तो कहा था कि–

पंपा सरहि जाहु रघुराई।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई।।३/३५/११

सुग्रीव से मित्रता होगी। अतः मैं तो सुग्रीव से मित्रता करके शबरीजी के आदेश का पालन कर रहा हूँ। जब शबरीजी सुग्रीव को इतना महत्व देती हैं तो फिर मेरे लिए उससे मित्रता करने से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ कर्त्तव्यपालन का कार्य हो ही नहीं सकता।" लक्ष्मणजी को मौन हो जाना पड़ा। उन शबरीजी की विशेषताओं का क्या वर्णन किया जा सकता है जिसके अनुरोध को प्रभु आज्ञा मानकर उसका पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं ?

शबरीजी के फलों के विषय में भी बड़ी मधुर चर्चाएँ की जाती हैं। प्रभु ने उन फलों में न जाने कितना स्वाद और रस पाया कि उसे शब्दों में व्यक्त करने में वे अपने आपको असमर्थ पाते हैं। अधिकांश भक्तों

और प्रभु का गुणगान करने वालों ने फलों का विस्तार न करके उसे बेर तक ही सीमित कर दिया है। इसलिए वे भगवान से यहाँ तक कह देते हैं कि 'प्रभु ! आपने तो शबरी के जूठे बेर को भी बड़े प्रेम से खा लिया।' सूरदासजी भी ऐसा ही स्वीकार करते हैं। पर गोस्वामीजी केवल बेर न कहकर 'कंद–मूल–फल' अर्पित करने की बात कहते हैं–

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारबार बखानि।।३/३४

'गीतावली' रामायण में भी गोस्वामीजी ने शबरीजी के फलों की विशेषता का वर्णन किया है। और उन्होंने जिन शब्दों में इसका वर्णन किया है उसे पढ़कर तो यही लगता है कि 'प्रभु की पूरी यात्रा में यही एकमात्र ऐसा स्थल है, जहाँ लगता है कि भगवान राम बहुत भूखे हैं।' गोस्वामीजी कहते हैं कि–

केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात।
(गीतावली/३/६)

प्रभु ! बार–बार शबरी से 'और–और' कहकर फलों की याचना करते हैं। शबरीजी के फलों में ऐसी विशेषता है।

शबरीजी से प्रभु प्रश्न करते हैं इसके पीछे भी एक विशेष महत्व का सूत्र है। भगवान राम मानो इसके द्वारा यह संकेत करना चाहते हैं कि संसार में आने वाली जीवन की समस्याओं का शाश्वत समाधान शबरीजी के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। भगवान राम के सामने सबसे बड़ी समस्या सीताजी को पाने की है, पर यदि गहराई से दृष्टि डालें तो यह समस्या केवल भगवान राम की नहीं है, यही समस्या रावण की भी है।

भगवान राम और रावण का चरित्र परस्पर विरोधी प्रतीत होता है। पर दोनों में एक समानता दिखाई देती है कि जनकनंदनी सीता को पाने की कामना दोनों में ही विद्यमान है। इसलिए कहा जा सकता है कि 'मानस' में जीवन की जिन मूल समस्याओं की ओर संकेत किया

गया है वे सीताजी के चरित्र से जुड़ी हुई हैं। महर्षि वाल्मीकि भी 'रामायण' में यह न कहकर कि 'यह भगवान राम के महान चरित्र की गाथा है, जो यह कहते कि '**सीतायाश्चरितं महद्**' तो इसके पीछे भी यही संकेत है। वे भी यह बताना चाहते हैं कि सीताजी केन्द्र में हैं और उनका चरित्र कितना महत्वपूर्ण है !

भगवान राम का श्रीसीताजी के प्रति अनन्यानुराग है। यद्यपि यह अनुराग प्रगट रूप से दिखाई भी देता है पर उसका वर्णन कर पाना संभव नहीं है। रावण भी सीताजी को पाना चाहता है और उसके जीवन में भी सीताजी के चिंतन की जैसी पराकाष्ठा विद्यमान है, वैसी विश्व के इतिहास में किसी और व्यक्ति के जीवन में शायद ही मिले !

अधिकांश व्यक्ति जो ध्यान लगाने का अभ्यास करते हैं वे जानते हैं कि यह बड़ा कठिन कार्य है। ध्यान में बैठे व्यक्ति को यदि मक्खी या मच्छर काट ले तो उसके ध्यान में बाधा पड़ती है। इस संदर्भ में अयोध्या के एक महात्मा की बात याद आती है जो मौनी बाबा के नाम से जाने जाते थे। वे मसहरी में बैठकर ध्यान लगाते थे। वे कहा करते थे कि 'मच्छर और मक्खियाँ तो कलियुग के रूप हैं जिनसे बचने के लिए मैं इस सुरक्षा कवच (मसहरी) में बैठकर ध्यान लगाता हूँ।' पर रावण में ध्यान लगाने की अद्‌भुत क्षमता है। मक्खी–मच्छर की बात क्या, वह तो युद्धक्षेत्र में जहाँ अस्त्र–शस्त्र चल रहे हों, उस पर चारों ओर से बंदर आक्रमण कर रहे हों, बिना किसी कठिनाई का अनुभव किए ध्यान लगा सकता है। रावण के चिन्तन–ध्यान की यह बात त्रिजटाजी व श्रीसीताजी के संवाद में सामने आती है।

त्रिजटाजी लंका के युद्ध का समाचार प्रतिदिन सीताजी को सुनाया करती थीं। एक दिन जब उन्होंने यह समाचार दिया कि 'प्रभु के द्वारा रावण की भुजाओं और सिरों के काटे जाने पर भी रावण की मृत्यु नहीं हो रही है', तो इसे सुनकर सीताजी अत्यन्त व्याकुल हो गईं और निराशा भरे स्वर में कहने लगीं– "माँ ! लगता है ब्रह्मा मेरे विरूद्ध हो गया है।

मुझे दुख देने के लिए ही पहले उसने मेरे मुख से लक्ष्मण के विरूद्ध ऐसे वाक्य कहलवा दिए जो मैं सोच भी नहीं सकती थी।

लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए।६/९८/८

और अब भगवान के द्वारा सिर और भुजाओं के काटे जाने पर भी रावण की मृत्यु नहीं हो रही है ! यह मेरा दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है?"

त्रिजटा ने कहा– "देवि इसमें ब्रह्मा का कोई दोष नहीं है। क्योंकि रावण की मृत्यु न होने में कारण ब्रह्मा नहीं, स्वयं आप हैं।"

–"आश्चर्य है ! मैं तो प्रतिक्षण यही कामना करती हूँ कि रावण की मृत्यु शीघ्र से शीघ्र हो जाय और तुम कह रही हो, रावण मेरे कारण नहीं मर पा रहा है !"

त्रिजटा ने इसका जो रहस्य बताया वह बड़े महत्व का है। त्रिजटा कहती है– "देवि ! रावण की मृत्यु इसलिए नहीं हो पा रही है क्योंकि वह आपके चिन्तन में अपने आपको इतना तन्मय बना चुका है कि एक क्षण के लिए भी उसका मन आपके ध्यान से अलग हो ही नहीं रहा है। ऐसी स्थिति में भगवान राम के सामने एक बहुत बड़ी समस्या है। वे रावण के हृदय पर इसीलिए प्रहार नहीं कर रहे हैं क्योंकि वहाँ आप विराजमान हैं। और ऐसा करने पर रावण के साथ–साथ सम्पूर्ण विश्व का विनाश होना अवश्यम्भावी है।"

ध्यान की ऐसी विलक्षण तन्मयता रावण में है जो किसी योगी कहे जाने वाले व्यक्ति के लिए भी असंभव–सी लगती है। और इसी तन्मयता से उसने जो शक्ति पाई है, यह उसी शक्ति का चमत्कार है जो विनाश से रावण की रक्षा कर रही है। रावण के जीवन की यह विडम्बना ही है कि जिस ध्यान और एकाग्रता को प्रशंसनीय माना जाता है, वह रावण जैसे व्यक्ति के संदर्भ में अकल्याणकारी ही है। इसलिए रावण को इस ध्यान से हटाकर प्रभु को उसका वध करना पड़ा।

त्रिजटा सीताजी को धीरज बँधाते हुए कहती है कि प्रभु आपसे रावण का ध्यान हटाने के लिए एक ऐसा बाण चलाएँगे कि–

काटत सिर होइहि बिकल छुटि जाइहि तव ध्यान।
तब रावनहि हृदय महुँ मरिहहिं रामु सुजान।।६/६६

जिसके लगते ही वह आपके ध्यान से च्युत हो जाएगा और तब प्रभु उसी क्षण उसका वध कर देंगे।

'मानस' के महानतम नारी पात्रों में से त्रिजटा भी एक हैं जिनमें संतों के सभी गुण विद्यमान हैं। लंका में प्रवेश करते समय हनुमानजी के मन में यही धारणा थी कि रावण की नगरी में राक्षसों और असंतों से ही भेंट होगी। पर जब उन्होंने विभीषणजी के भवन को देखा तो वे आश्चर्यचकित होकर साचने लगे कि–

लंका निसिचर निकर निवासा।
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा।।५/५/१

अरे ! क्या लंका में भी संत हो सकते हैं ? पर उनका यह आश्चर्य और भी बढ़ गया जब वे सीताजी के दर्शन के लिए अशोकवाटिका में गए। अशोकवाटिका में वे वृक्ष के पत्तों में छिपकर वहाँ का दृश्य देखने लगे। उन्होंने देखा कि सीताजी अशोकवृक्ष के नीचे राक्षसियों से घिरी बैठी हुई हैं और अत्यन्त निराश और दुखी हैं। हनुमानजी ने देखा कि उसी समय वहाँ रावण आता है और सीताजी को लोभ तथा भय दिखाकर अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करता है। पर सीताजी के ऊपर कोई प्रभाव न होते देखकर वह क्रुद्ध हो जाता है और राक्षसियों को आदेश देते हुए कहता है 'तुम लोग इनको डराओ और यदि ये एक महीने में मेरा प्रस्ताव स्वीकार नहीं करतीं तो मैं इनका सिर अपनी तलवार से काट दूँगा।' यह कहकर रावण चला जाता है।

हनुमानजी देखते हैं कि रावण के जाने के बाद जब राक्षसियाँ सीताजी को डराने लगती हैं तो त्रिजटा के रूप में एक विलक्षण पात्र सामने आता है। गोस्वामीजी त्रिजटा का परिचय देते समय जिन शब्दों

का प्रयोग करते हैं वे बड़े महत्वपूर्ण हैं। वे कहते हैं कि–

त्रिजटा नाम राच्छसी एका।५/१०/१

फिर वे उसकी विशेषता बताते हुए कहते हैं कि–

रामचरन रति,

भगवान राम के चरणों में उसकी 'रति' है। 'रति' शब्द मानस में भक्ति के स्वरूप का द्योतक है। भरतजी भी भक्ति की याचना करते हैं तो यही कहते हैं कि–

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम *रति* राम पद यह बरदानु न आन।।२/२०४

गोस्वामीजी त्रिजटा की विशेषता बताते हुए आगे लिखते हैं कि–

राम चरन *रति* निपुन बिबेका।५/१०/१

त्रिजटा जितनी भक्तिमयी हैं उतनी ही ज्ञानमयी भी हैं।

रावण के जाने के बाद सीताजी की व्याकुलता और भी बढ़ जाती है। वे सोचने लगती हैं कि 'रावण के हाथों सिर कटने से अच्छा तो यही है कि मैं स्वयं अपने शरीर को विनष्ट कर दूँ।' ऐसी स्थिति में त्रिजटा के द्वारा सीताजी की समस्या का समाधान प्राप्त होता है। त्रिजटा उन राक्षसियों को जो–

सीतहि त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद।५/१०

सीताजी को डराने की चेष्टा कर रही थीं, ऐसा न करने के लिए समझाते हुए अपना सपना सुनाती हैं। वे उनसे कहती हैं कि 'मैंने सपना देखा है कि लंका में एक बंदर आया हुआ है।'

त्रिजटा की बात सुनकर हनुमानजी चौंक पड़े– 'मैं तो समझ रहा था कि मेरे यहाँ आने की बात किसी को ज्ञात नहीं है, पर ये देवी तो धन्य हैं कि उन्हें स्वप्न में यह सत्य ज्ञात हो गया।' हनुमानजी त्रिजटा की बात ध्यान से सुनने लगे। वह कहने लगीं–

सपनें बानर लंका जारी।५/१०/३

"जो वानर आया हुआ है वह लंका को जलाएगा।" इसे सुनकर तो हनुमानजी के आश्चर्य की सीमा ही नहीं रही। वे सोचने लगे– 'लंका जलाने का आदेश तो प्रभु ने मुझे दिया नहीं था और त्रिजटा कह रही है कि उसने सपने में ऐसा देखा है ! तो क्या प्रभु ने जो बात मुझे नहीं बताई, त्रिजटा को स्वप्न में बता दी ? देखता हूँ, सचमुच प्रभु की ऐसी कोई योजना है क्या ?'

आगे चलकर घटनाक्रम जिस रूप में सामने आता है उससे हनुमानजी की यह धारणा पूरी तरह बदल जाती है कि लंका में संत नहीं हो सकते। वे जब रावण की सभा में बँधकर जाते हैं तो रावण उन्हें दण्ड देने के लिए सेवकों को आज्ञा देते हुए कहता है कि 'इस बंदर की पूंछ में कपड़ा लपेटो और उसमें घी–तेल डालकर आग लगा दो।' रावण की बात सुनकर हनुमानजी ने मन ही मन त्रिजटा को स्मरण किया– 'त्रिजटा तुम धन्य हो ! तुम तो इतनी बड़ी और महान संत हो कि तुम्हारा सपना भी सत्य हो जाता है। तुमने जब अशोकवाटिका में लंका जलाने की बात कही तो उस समय मैं सोच रहा था कि लंका जलाने के लिए घी–तेल–कपड़ा कहाँ से लाऊँगा ? पर जब सारा प्रबंध रावण ही कर रहा है, तो मैं जान गया हूँ कि तुम बड़ी विलक्षण संत हो और परम सत्य को स्वप्न में देख लेती हो !'

कुछ लोग गोस्वामीजी को नारी जाति का विरोधी और निंदक मानकर आज भी उनकी आलोचना करते हैं। संभवतः वे रामायण को उस दृष्टि से नहीं देख पाते जिससे 'मानस' को हृदयँगम किया जा सकता है। यद्यपि 'मानस' में कौशल्याजी, सुमित्राजी, सुनयनाजी, मैनाजी व सीताजी आदि एक से एक महान नारी पात्र तो हैं ही, पर गोस्वामीजी त्रिजटाजी और शबरीजी जैसी लंकानिवासिनी और वनवासिनी नारी पात्रों को उन्हीं पात्रों की तरह ही महान मानते हैं।

शबरीजी में भक्ति की परिपूर्णता तो है ही, वे दिव्य योगसंपन्न भी हैं। अन्य ऋषि–मुनियों का भी भगवान राम से मिलन होता है पर शबरीजी से मिलन और संवाद के बाद शबरीजी प्रभु से अलग नहीं हुई। गोस्वामीजी कहते हैं कि सच्चे योग की सिद्धि तो शबरीजी के ही जीवन में दिखाई देती है। क्योंकि–

तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।
३/३५/छंद

वे योग से उस पद को पा लेती हैं जहाँ कभी वियोग न होकर शाश्वत मिलन ही मिलन है। भगवान राम इसीलिए शबरीजी से ही सीताजी के मिलने का उपाय पूछते हैं।

सीताजी की खोज भगवान राम को ही नहीं, संसार के समस्त प्राणियों को भी है। सीताजी के जिन विविध रूपों का वर्णन आता है, उनमें से किसी न किसी की खोज में हम सब लगे हुए हैं। 'मानस' व अन्यत्र सीताजी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे शक्तिरूपा हैं, लक्ष्मीरूपा हैं। करुणा और भक्ति के रूप में भी लोग सीताजी को देखते हैं। शंकराचार्यजी सीताजी का दर्शन मूर्तिमती शांति के रूप में करते हैं। तो संसार में ऐसा कौन होगा जो शांति को नहीं पाना चाहेगा ? भगवान राम मनुजी से सीताजी का परिचय यही कह कर देते हैं कि–

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।।१/१५१/४

'ये वे आदिशक्ति हैं जिन्होंने संसार का निर्माण किया है।' इस प्रकार सीताजी के अनेकानेक रूप हैं और यदि रावण भी सीताजी को पाना चाहता है तो यह स्वाभाविक ही है। उसकी इस कामना को अनुचित नहीं कहा जा सकता। पर इस संदर्भ में एक प्रश्न आता है कि 'इसका उपाय क्या है ? सीताजी को पाने का सही मार्ग क्या है ?' इसका उपाय बताने वाले दो पात्र हैं– शबरी और त्रिजटा। इन दोनों पात्रों के माध्यम से प्रभु जो संकेत देना चाहते हैं वह बड़े महत्व का है।

शबरीजी और त्रिजटाजी इन दोनों पात्रों को देखें तो इनमें कोई विशेषता या योग्यता नहीं दिखाई देती। यही भक्ति की विलक्षणता है।

ज्ञानमार्ग में सबसे पहले अधिकारी का प्रश्न सामने आता है। 'कौन अधिकारी है और कौन अधिकारी नहीं है' इसकी परीक्षा की जाती है। धर्म का तो मुख्य विषय ही 'अधिकारी और अनधिकारी' में भेद करना है। केवल 'भक्ति' ही एक ऐसी है कि जहाँ इस संबंध में कोई घोषणा नहीं है कि 'कौन इसका अधिकारी है और कौन नहीं !' **इसकी पात्रता के लिए किसी जाति, धर्म, कर्म या अन्य किसी वस्तु की विशेषता की आवश्यकता नहीं है।**

शबरीजी में नवों भक्तियाँ विद्यमान हैं, पर हम उनका नाम तक नहीं जानते। शबर जाति में उनका जन्म हुआ था इसलिए लोग उन्हें 'शबरी' कहने लगे। जिनका नाम तक ज्ञात नहीं और जाति-कुल की दृष्टि से भी विशिष्ट न होने पर भी, शबरी 'मानस' की एक दिव्य और विलक्षण नारी पात्र हैं जो प्रभु को भक्ति रूपा श्री सीताजी को पाने का उपाय बताती हैं। त्रिजटाजी तो लंका में, रावण की नगरी में रहती हैं पर उनकी प्रभु-चरणों में ऐसी रति है कि वे सीताजी को प्रभु का चरित्र सुनाकर उन्हें धैर्य बँधाती हैं।

शबरीजी ने भगवान राम को जो फल अर्पित किए उससे भी बड़ी मीठी बात जुड़ी हुई है। भगवान राम तो मर्यादा और शिष्टता के साकार रूप हैं। पर इस प्रसंग में वे बार-बार ऐसी बात करते हैं जो मर्यादा या सीमा से हटकर प्रतीत होती है। प्रभु का यह व्यवहार लंकाविजय के बाद के प्रसंगों में सामने आता है।

प्रभु अयोध्या लौटकर आते हैं। आज भी जब कोई प्रिय व्यक्ति लंबे समय के बाद कहीं बाहर से वापस लौटता है तो लोग उसे भोज पर बुलाते हैं। भगवान राम को भी माता कौशल्या, सुमित्रा अंबा तथा कैकेई अंबा की ओर से ऐसा निमंत्रण मिलता था। गुरु-माता अरुंधती तथा कभी-कभी ससुराल से भी ऐसा बुलावा आता था। प्रभु सबके यहाँ प्रेमपूर्वक पधारते थे और भोजन-ग्रहण करते थे। पर उसके पश्चात् प्रभु का जो व्यवहार होता था, वह बड़ा अटपटा-सा लगता है।

जब किसी व्यक्ति को भोजन करने लिए बुलाया जाता है तो शिष्ट व्यक्ति भोजन करने के बाद यह कहना नहीं भूलते कि 'भोजन बड़ा स्वादिष्ट था', भले ही भोजन स्वादिष्ट लगता हो या न लगता हो। यही शिष्टाचार है। इस संदर्भ में एक परिचित सज्जन ने जो संस्मरण सुनाया, वह मुझे नहीं भूलता।

उन्होंने बताया कि वे जब विद्याध्ययन करते थे तो उनके एक अध्यापक उनसे बड़ा स्नेह करते थे। एक दिन अध्यापक महोदय घर से उनके लिए पराठे बनवाकर लाए और बोले- "इसे अभी-अभी खा लो!" उनका आग्रह देखकर वे खाने बैठ गए। उन पराठों में मिर्च की मात्रा कुछ ज्यादा थी। पर किसी तरह वे रो-धोकर उन्हें खा गए। गुरुजी के पूछने पर कहा- "बड़े स्वादिष्ट हैं।" सुनकर गुरुजी बड़े प्रसन्न हुए। दूसरे दिन गुरुजी फिर से पराठे ले आए और बोले- "चलो, जल्दी से इन्हें खा लो !" अब तो वे सचमुच बड़े संकट में पड़ गए ! उस संकट से छुटकारा पाने के लिए वे बड़ी विनम्रता से बोले- "महाराज ! आपके द्वारा घर से लाया गया यह भोजन बड़ा पवित्र है, अतः मैं स्नान करने के बाद ही खाऊँगा।" संकट टल गया। पर ऐसी स्थिति में भी वे शिष्टाचार के नाते यह नहीं कह सके कि 'आप यह क्या ले आए जिसका स्वाद जहर जैसा है !'

भगवान राम को जिन्होंने भोजन के लिए आमंत्रित किया वे सब एक से एक बढ़कर थे। पर यही प्रसंग ऐसा है जहाँ भगवान राम ऐसी बात कहते हैं जो मर्यादा से थोड़ी हटकर लगती है। यदि आप किसी के घर भोजन करने जाएँ और यदि वहाँ किसी दूसरे व्यक्ति का नाम लेकर कहने लगें कि 'उनके यहाँ का भोजन बड़ा स्वादिष्ट था', तो यह बात अटपटी सी लगेगी। क्योंकि इसे सुनकर सामने वाला व्यक्ति क्षुब्ध हो जाएगा और सोचेगा कि 'उसका भोजन तो किसी काम का नहीं है।' भगवान राम ठीक यही कार्य करते हैं।

'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी इसका वर्णन करते हुए यही कहते

हैं कि भगवान राम जहाँ–जहाँ भोजन करने के लिए जाते थे

घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।

वहाँ–वहाँ भोजन के बाद सबके मन में उत्सुकता रहती थी कि, 'उनके द्वारा परोसा गया भोजन भगवान राम को कैसा लगा ?' पर भगवान राम सर्वत्र यही कहते थे कि 'हाँ ! हाँ ! भोजन तो बहुत अच्छा है पर शबरीजी के फलों में जैसा स्वाद था, वैसा स्वाद नहीं मिला !"

घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई।।
(विनयपत्रिका/१६४/४)

प्रभु को जिन शबरी के फलों में ऐसा अनुपम स्वाद मिला वे शबरी स्वयं कितनी महान रही होंगी, इसकी हम कल्पना ही कर सकते हैं।

।।बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।।

।।श्री रामः शरणं मम।।

२

गोस्वामीजी ने शबरीजी का जो चित्र प्रस्तुत किया है उससे ज्ञात होता है कि उनका जन्म एक ऐसी वनवासी जाति में हुआ था जिसे लोग हेय दृष्टि से देखते थे। वे मतंग ऋषि की शिष्या थीं और आश्रम में, गुरु–सेवा में रत रहकर अपना समययापन किया करती थीं।

एक दिन मतंग ऋषि के शरीर–त्याग का समय आ गया। गुरुनिष्ठा से प्रेरित होकर शबरीजी ने गुरुदेव से यही कहा कि 'आपके बाद मैं भी अपना शरीर नहीं रखना चाहती, अतः आप मुझे शरीर–त्याग करने की आज्ञा दें।' इस पर मतंग ऋषि ने कहा– "शबरी ! अभी तुम्हारे शरीर–त्याग का उचित अवसर नहीं आया है। तुम्हें आश्रम में रहकर प्रतीक्षा करनी है। क्योंकि साक्षात् ब्रह्म श्रीराम के रूप में अवतरित होकर एक दिन तुम्हारी इस कुटिया में पधारेंगे। और इस प्रकार तुम्हें वह सुअवसर मिलेगा कि तुम उनकी कृपा का अनुभव कर सको। फिर उसके पश्चात् तुम अपने इस शरीर का परित्याग कर धन्य हो जाओगी।"

शबरीजी में गुरुभक्ति की बड़ी अनोखी भावना है। गुरुजी ने प्रभु के आगमन की किसी तिथि या समय–सीमा का संकेत नहीं किया था। इसलिए शबरीजी नित्य प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा करती रहतीं। एक दिन वह विलक्षण अवसर आ ही गया। जब श्री रामभद्र लक्ष्मणजी के साथ शबरीजी के आश्रम में पधारे। शबरीजी भगवान राम को देखकर भाव–विह्वल हो गईं। वे सोचने लगीं– 'धन्य हैं गुरुदेव ! जिनके आशीर्वाद से मुझे आज प्रभु के दर्शन–लाभ का अवसर मिला–

मुनि के बचन समुझि जियँ भाए।३/३३/६

यह तो मेरी साधना या तपस्या का परिणाम हो ही नहीं सकता क्योंकि मैं सर्वथा अयोग्य हूँ। प्रभु तो मेरे गुरुदेव के वचनों की रक्षा करने

के लिए ही मेरी कुटिया में पधारे हैं।'

शबरीजी प्रभु को आश्रम में लाती हैं, आसन पर बैठाती हैं, उनके चरण पखारती हैं और तत्पश्चात् प्रभु के सामने कंद–मूल–फल लाकर परोस देती हैं। भगवान राम बार–बार प्रशंसा करते हुए उन फलों का रसास्वादन करते हैं।

भक्ति–साहित्य में शबरी के फलों की मिठास का बार–बार वर्णन आता है। कुछ भक्तों ने तो यहाँ तक कह दिया कि प्रभु ने शबरी के जूठे फल खाए। यह भी भक्तों की एक भावना है। इसे मर्यादा और विवाद का विषय न बनाकर उसके पीछे जो भावनात्मक संकेत हैं, उस दृष्टि से विचार करना चाहिए। पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से सामने आती है कि भगवान राम को इन फलों में जैसा स्वाद मिला, वैसा स्वाद न तो पहले कहीं मिला था और न बाद में ही कहीं मिला।

प्रभु अपनी इस वनयात्रा में मुनियों के आश्रम में भी गए। महर्षि भरद्वाज, ब्रह्मर्षि वाल्मीकि आदि ऋषियों के आश्रम में भी आदर और स्नेहपूर्वक उन्हें कंद–मूल–फल अर्पित किए गए। उन महापुरुषों ने जो फल अर्पित किए वे भी दिव्य ही रहे होंगे। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से यह पूछा जा सकता है कि 'शबरी के फलों में ऐसी कौन–सी विशेषता थी कि प्रभु ने उनमें जिस स्वाद का अनुभव किया, अन्यत्र नहीं कर पाए ?'

गोस्वामीजी इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, उसके अर्थ और संकेत पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। गोस्वामीजी इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र अर्पित कंद–मूल–फल के लिए नहीं करते। गोस्वामीजी कहते हैं कि–

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।३/३४

शबरी के फलों में 'रस' नहीं **'सुरस'** है। और केवल सुरस ही नहीं **'अति सुरस'** है। इस 'अति सुरस' शब्द के द्वारा भक्ति की जो अद्भुत व्याख्या की गई है उसके बहुत से संकेत सूत्रों का वर्णन काव्य में किया गया है और उनमें बड़ा आनंद है।

पहले 'रस' पर विचार करें। रस की पिपासा सारे जीवों में समान रूप से विद्यमान है। पर उन रसों में भिन्नता है। एक रस, जिसका आनंद व्यक्ति अपने जीवन में सर्वदा लेने का अभ्यास करता है वह है– **'विषय रस'।**

गोस्वामीजी से प्रश्न किया गया कि आपने रामकथा को इतना सरल बना दिया, पर इसमें इतने लोग एकत्र क्यों नहीं होते जितने होने चाहिए? श्रोता भी कई प्रकार के होते हैं। उनमें अलग–अलग रुचि और अलग–अलग प्रकार के रसों की कामनाएँ होती हैं। गोस्वामीजी ने इसका उत्तर देने के लिए जिस शब्दावली का प्रयोग किया उसमें थोड़ी सी कठोरता दिखाई देती है। वे कहते हैं कि 'मानस' रूपी मानसरोवर में कुछ ऐसी वस्तुओं का अभाव है जिन्हें कई श्रोता पाना चाहते हैं। इसलिए यहाँ–

तेहि कारन आवत हियँ हारे।
कामी काक बलाक बिचारे।।१/३७/५

कौए और बगुले जैसी वृत्ति वाले जो रामकथा में विषय रस पाना चाहते हैं, नहीं आ सकते। इसका अर्थ किसी की आलोचना के रूप में न लेकर इस रूप में लेना चाहिए कि 'कथा में भी विषय रस पाने की लालसा से जाना, यह उद्देश्य ठीक नहीं है।' इस पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है कि हम किस रस को पाने के लिए भगवत्कथा में जाते हैं ?

इन्द्रियों में रस की पिपासा है और विषयों में भी रस है। पर यदि कोई व्यक्ति इस विषय रस की खोज में रामकथा में जाता है तो उसे निराशा ही होगी। अब यदि ऐसे व्यक्ति को रामकथा नीरस लगे तो यह आश्चर्य की बात नहीं है।

इसका एक संकेत तो यह है कि व्यक्ति चाहता है कि उसे मिठास का अनुभव हो, रस मिले। संगीत के माध्यम से भी कथा कहकर वाणी को धन्य बनाने की परंपरा रही है। क्योंकि संगीत का भी उद्देश्य भगवान के गुणानुवाद में निमित्त बनना ही रहा है। लेकिन यदि कथा–रस के पीछे केवल यह भावना जुड़ जाए कि 'कितने मधुर कंठ से कथा कही

गई ! कितने वाद्‌य यंत्रों के साथ कथा कही गई !' तो 'आर्केस्ट्रा' और मधुर कंठ से कथा में आकर्षण की इस प्रतीति से यह कहना बड़ा कठिन है कि अनुभव में आने वाला रस भगवद् कथा रस है अथवा संगीत का रस है ?

अब इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं संगीत के माध्यम से कथा कहने वालों का खंडन कर रहा हूँ या उनमें रुचि लेने वाले श्रोताओं की आलोचना कर रहा हूँ। भगवत्कथा का गायन और श्रवण तो किसी भी रूप में हो लाभकारी है। पर 'मानस' में भगवान की कथा मधुर लगने की एक बड़ी सुन्दर कसौटी दी गई है।

रामायण के चारों वक्ताओं में एक वक्ता हैं भुशुण्डिजी जो एक काग (कौआ) हैं। सभी जानते हैं कि पक्षियों में सबसे कर्कश स्वर वाला पक्षी कौआ ही होता है। कोयल का गायन किसको आकृष्ट नहीं करता? पर कौवे का कर्कश स्वर कोई नहीं सुनना चाहता। 'मानस' में जो कसौटी है वह तो यही बताती है कि जिसे कौवे की कथा में भी आनंद आए वही कथा–रसिक है। पर जिसे कथा सुनने के लिए कौवे के स्थान पर कोयल की खोज़ हो, वह कथा–रसिक न होकर स्वर की मधुरता का प्रेमी है।

गोस्वामीजी जब भुशुण्डिजी का वक्ता के रूप में वर्णन करते हैं तो एक अद्‌भुत बात कहते हैं। भुशुण्डिजी हैं तो काग ही, इसलिए उनके कंठ में से निकलने वाले स्वर में कर्कशता तो होगी ही। पर जब भुशुण्डिजी वक्ता के आसन से कथा सुनाते हैं तो गोस्वामीजी एक और शब्द जोड़ते हुए कहते हैं कि–

मधुर बचन तब बोलेउ कागा।७/६२/८

कौवे ने 'मधुर वाणी' से कथा सुनाई। इसका अर्थ है कि कौवे के कंठ से भी सुनने में मधुर लगे, यही कथा–रस है, भक्ति–रस है।

मैं एक संस्मरण भूल नहीं पाता। गोरखपुर में एक संत थे जो हमेशा 'रघु–रघु' का जप किया करते थे। इसलिए उनका नाम ही हो गया था 'रघुबाबा'। भक्तों का ऐसा विश्वास था कि वे भगवान से वार्तालाप

भी करते थे। वे भगवान को नित्य भोग लगाते थे, पर पहले से यह नहीं बताते थे कि किस वस्तु का भोग लगाएँगे। भोग लाने वाले व्यक्ति को भेजते समय ही बताते थे कि 'रामजी आज यह चाहते हैं।' प्रतिदिन लोग बढ़िया–बढ़िया प्रसाद का आनंद लेते रहते। पर एक दिन जब रघुबाबा ने यह बताया कि 'आज रामजी कच्चा करेला खाना चाहते हैं' तब बड़ा संकट आ गया। प्रसाद तो करेले का ही लाया गया, क्योंकि उनकी भावना के ही अनुरूप बात होती थी, पर उस दिन प्रसाद बाँटते समय एक नई बात हुई।

उस दिन प्रसाद लेने वाले भक्तों में वैसा उत्साह नहीं दिखाई पड़ा जैसा अन्य दिनों दिखाई देता था। पहले लोग प्रसाद समझकर बार–बार लेने में भी संकोच नहीं किया करते थे, पर आज सभी भक्तों की यही धारणा थी कि 'प्रसाद का तो एक कण भी बहुत होता है, अधिक की आवश्यकता नहीं !' 'हलुवा हो, मेवा हो तो चाहे जितनी भी अधिक मात्रा में मिल जाय तो कोई बात नहीं, पर करेला हो तो कण भर भी बहुत है', यह तो प्रसाद–वृत्ति नहीं स्वाद–वृत्ति है। यद्यपि यह कठिन है पर इस स्वादवृत्ति से कभी न कभी आगे तो जाना ही होगा। गोस्वामीजी बार–बार इसी बात की स्मृति दिलाते रहते हैं।

व्यक्ति की यही प्रसाद में स्वाद-वृत्ति भोजन के षडरस को प्रसाद में भी खोजने लगेगी और इस वृत्ति से व्यक्ति भगवत्प्रसाद के द्वारा भगवद्‌रस के स्थान पर षडरस तक ही सीमित हो जाएगा। यही बात साहित्य के रसप्रेम के संदर्भ में भी कही जा सकती है।

रामचरितमानस साहित्य का भी अनुपम ग्रन्थ है। इसलिए इसमें साहित्य के सभी नौ रस भी विद्यमान हैं। व्यक्ति इसके पठन–पाठन से मिलने वाले इन रसों का आनंद ले यह स्वाभाविक है और एक अच्छी बात है। पर 'मानस' यदि केवल इन नौ रसों की दृष्टि से रसमय लगता हो तो यह भक्तिरस नहीं, केवल साहित्य–प्रेमजन्य रस है। जो व्यक्ति इस दृष्टि से 'मानस' को पढ़ेगा वह काव्य के उन नौ रसों को ही प्राप्त कर पाएगा, जो काव्य–साहित्य के अनेकानेक अन्य ग्रन्थों में भी मिल जाते हैं। इसलिए गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में जो कसौटी बताते हैं

उसमें यही कहते हैं कि–

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस-षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।।
(विनयपत्रिका/१६६/१)

जब प्रसाद के 'षडरस' और साहित्य के 'नौ रस' फीके लगने लगें और फिर भी भगवत्कथा में रस की अनुभूति हो, तब यह रस भगवान के प्रति प्रेम की मिठास का रस है।

इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को जानना चाहिए कि वह क्या पाना चाहता है ? उसका लक्ष्य क्या है ? क्या जिन माध्यमों से संसार के विषयों का आनंद मिलता है तथा जिस पद्धति से मिलता है, उसी पद्धति और माध्यम को रामकथा का आधार बनाकर और उससे मिलने वाले रस को ही कथा–रस मानकर वह आनंद लेना चाहता है ? गोस्वामीजी कहते हैं कि यद्यपि विषय–रस की कामना ही इसके मूल में है, पर प्रारंभ में ऐसी बात हो तो ज्यादा चिन्ता की बात नहीं है। पर व्यक्ति को इसे जानना चाहिए और इससे आगे की ओर सही दिशा में बढ़ने का प्रयास करना चाहिए।

गोस्वामीजी ऐसे रसप्रेमियों को भी 'मानस' की कथा सुनने के लिए आमंत्रित करते हैं। यदि आप विषयी हैं तो भी आइए ! आपको रामकथा के द्वारा मनोरंजन की प्राप्ति होगी। पर आप इसी में रमकर रुकिए मत! आगे बढ़कर उस अतुलनीय 'ब्रह्मरस' को प्राप्त कीजिए। ब्रह्म का वर्णन करते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि वह साक्षात् रसरूप ही है– **'रसोवैसः'**।

संसार में यद्यपि अधिकांश व्यक्ति विषय रस ही पाना चाहते हैं। पर इसमें दोष यही है कि इससे व्यक्ति को संतोष नहीं होता, तृप्ति नहीं मिलती। जीव की अनादि काल से जो रस–पिपासा है उसे चरम तृप्ति तो ब्रह्म रस ही प्रदान कर सकता है। ब्रह्मरस को अनुभव कर व्यक्ति कृतकृत्य हो जाता है।

भगवान राम ब्रह्मतत्त्ववेत्ता ऋषियों के आश्रम में जाते हैं तो वे भी

भगवान राम को कन्द–मूल–फल अर्पित करते हैं। उन फलों में भी तो रस विद्यमान हैं। प्रतीक के माध्यम से यदि समझने की चेष्टा करें तो कह सकते हैं कि तत्त्वज्ञ महात्माओं के इन फलों में ब्रह्मतत्व के रस की ही प्रमुखता होगी। भगवान राम को भी महर्षि भरद्वाज, महर्षि वाल्मीकि के फलों में ब्रह्मरस की अनुभूति न हुई हो, ऐसी बात नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान राम उन फलों को–

अति रुचि राम मूल फल खाए।२/१०६/३

अत्यन्त रुचि से खाते हैं और तृप्ति का अनुभव करते हैं। विषय रस से निसंदेह ब्रह्मरस श्रेष्ठ है। क्योंकि विषय रस क्षणिक है। ब्रह्मरस में दिव्यता तो है पर यह सबके लिए ग्राह्य और सुपाच्य नहीं हो पाता। पर शबरीजी के फलों के लिए गोस्वामीजी कहते हैं कि वे **'सुरस अति'**, अति सुरस हैं। पढ़कर स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि गोस्वामीजी इस शब्द के माध्यम से जिस रस का वर्णन करना चाहते हैं, वह क्या है ? और इस रस में तथा ब्रह्मरस में क्या भिन्नता है ?

गोस्वामीजी के ग्रन्थ में जो इस प्रकार के विशेष शब्द आए हुए हैं, यदि उनके अर्थ किसी शब्दकोश के माध्यम से ढूँढे जायँ, तो बात समझ में नहीं आ पाएगी। इसके लिए तो इन शब्दों के अर्थ गोस्वामीजी के ही ग्रन्थों में खोजने की आवश्यकता है। दृष्टान्त के रूप में रामचरितमानस की एक चौपाई में गोस्वामीजी भगवान राम के तीन गुणों का नाम लेते हुए कहते हैं कि–

राउरि रीति सुबानि बड़ाई।
जगत बिदित निगमागम गाई।।२/२६८/१

प्रभु ! आपकी **रीति, बानि** और **बड़ाई** विश्व में सबको ज्ञात है तथा वेदों ने भी इनका गायन किया है। इनके अर्थ जानने की जिज्ञासा रखने वाले अध्येताओं का ध्यान 'विनयपत्रिका' की ओर अवश्य जाएगा। गोस्वामीजी ने 'विनयपत्रिका' के तीन अलग–अलग पदों में इन तीन शब्दों की व्याख्या की है। **'बड़ाई'** की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि–

रघुबर ! रावरि यहै *बड़ाई।*

निदरि गनी आदर गरीबपर करत कृपा अधिकाई।

(विनयपत्रिका-१६५)

फिर बहुत से उदाहरण देकर वे प्रभु से अपनी ओर भी ध्यान देने की प्रार्थना करते हैं।

एक दूसरे पद में प्रभु की **'बानि'** के विषय में कहते हैं कि–

श्री रघुबीर की यह *बानि।*

नीचहू सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।

(विनयपत्रिका-२१५)

'विनयपत्रिका' के एक और पद में वे **'रीति'** की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि–

ऐसी कवन प्रभु की *रीति* ?

बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।।

(विनयपत्रिका-२१४)

'विनयपत्रिका' के इस पद से जुड़ी, वृन्दावनधाम की घटना मैं भूल नहीं पाता, जहाँ इस पद के माध्यम से एक विनोदमय ढंग से मेरी रक्षा हुई।

वृंदावनधाम में, जहाँ ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानंदजी सरस्वती के चरणों में बैठने का मुझे सौभाग्य मिला, उस समय वहाँ कृष्णभक्ति का साम्राज्य तो था ही, साथ ही एक विशेष प्रकार के भक्तों की मण्डली भी विराजती थी। कृष्ण–भक्तों के बीच वृन्दावन में अयोध्यापति की चर्चा करने के कारण वे भक्तगण मुझसे छेड़छाड़ करने के लिए कोई न कोई बात विनोद में कह देते थे।

एक संत ने एक दिन 'विनयपत्रिका' के इसी पद की चर्चा करते हुए कहा– "आप चाहे भगवान राम की जितनी भी प्रशंसा करें, पर उनकी इस विशेषता को सिद्ध करने के लिए गोस्वामीजी को श्रीराम के चरित्र में एक भी उदाहरण नहीं मिला, इसलिए उन्हें श्रीकृष्ण की लीलाओं में से दृष्टान्त देने पड़े !"

'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी ने जो पद 'प्रभु की रीति' के संदर्भ में लिखा है, उसमें उन्होंने जितनी घटनाओं का वर्णन किया है, सचमुच वे सब भगवान कृष्ण की लीलाओं से जुड़ी हुई हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि–

ऐसी कवन प्रभु की रीति।

बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।

इसके लिए वे कई दृष्टान्त देते हैं। पहले दृष्टान्त में वे कहते हैं कि–

गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।

मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ।।२।।

पूतना अपने स्तनों में विष लगाकर श्रीकृष्ण को मारने के लिए गई, पर भगवान ने उसे माता की गति प्रदान की। गोस्वामीजी दूसरा उदाहरण गोपियों का देते हैं जिसमें वे कहते हैं कि–

काम मोहित गोपिकनिपर, कृपा अतुलित कीन्ह।

गोपियों में कामवृत्ति थी, फिर भी आपने उन्हें इतना महत बना दिया कि–

जगत-पिता बिरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह।।३।।

ब्रह्मा ने उनकी चरणधूलि को अपने मस्तक पर चढ़ाया। गोस्वामीजी तीसरा उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि–

नेमतें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि।

जो शिशुपाल आपको नित्य गाली देता था उसे आपने सबके सामने भरी सभा में अपने आप में विलीन कर लिया।

कियो लीन सु आप में हरि राज-सभा मँझारि।।४।।

गोस्वामीजी चौथा इतिहास भी कृष्णकाल से ही चुनते हुए कहते हैं कि–

ब्याध चित दै चरन मार्‌यो मूढ़मति मृग जानि।

मूर्ख बहेलिये ने मृग समझकर आपके चरण पर बाण चला दिया पर आपने उस पर भी कृपा की और उसे अपना धाम प्रदान कर दिया।

वे संत कहने लगे– "गोस्वामीजी इन चार उदाहरणों में से कम से कम दो उदाहरण तो रामचरित्र से चुन सकते थे! पर उन्होंने चारों के चारों कृष्णलीला से चुने! इसका अर्थ तो यही निकलता है कि ये बातें उन्हें भगवान राम के चरित्र में नहीं मिलीं!"

उस समय गोस्वामीजी के उसी पद के एक शब्द ने ही मेरी रक्षा की। मैंने उन महात्माजी से उस शब्द की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हुए निवेदन किया कि 'आपने उस पद में इसके बाद जो वाक्य है उसे देखा होगा, जिसमें गोस्वामीजी कहते हैं कि–

सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज *बानि*।।५।।

भगवान ने अपनी **'बानि'** को प्रगट करने के लिए यह लीला की है।

'बानि' का अर्थ है– 'किसी को एक ऐसी आदत पड़ जाती है जिसे वह छोड़ नहीं पाता।' बानि के अर्थ को प्रगट करने के लिये गोस्वामीजी ने यह जो पद जोड़ा है सचमुच वह बड़ा अद्‌भुत है। इसमें गोस्वामीजी बड़ा सुंदर संकेत देते हुए कहते हैं कि 'श्रीराम के रूप में उन्हें ऐसी आदत पड़ी कि दूसरे अवतार में कृष्ण बनने पर भी वे उस आदत को नहीं छोड़ पा रहे हैं। एक अवतार की पड़ी हुई जो 'बानि' है, वह दूसरे अवतार में भी नहीं छूट रही है।' इस प्रकार इसका एक विशेष अर्थ है और उसमें विशेष रस है। और यह रस, साधारण अर्थ लेने के स्थान पर, गोस्वामीजी के शब्दों की व्याख्या उनके ही ग्रन्थों में ढूंढ़ने से प्राप्त होगा।'

शबरीजी के फलों के 'सुरस' को समझने के लिए पहले गोस्वामीजी 'मानस' के प्रारंभ में 'रस' की जो व्याख्या करते हैं उस पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है। गोस्वामीजी वहाँ जो एक रूपक प्रस्तुत करते हैं उसमें वे कहते हैं कि जब हम भगवान राम के यश–सरोवर के निकट

पहुँचते हैं तो वहाँ सबसे पहले अमराई मिलती है। 'यह अमराई कौन सी है' इसे बताते हुए वे लिखते हैं कि–

संतसभा चहुँ दिसि अवँराई।१/३६/१२

संतों की सभा ही अमराई है।

आम का रस बड़ा स्वादिष्ट होता है। पर व्यक्ति ऐसे ऋतु में अमराई में पहुँच जाय, जब फल तो दूर बौर तक न लगे हों, तो निराश होकर कह सकता है कि 'आम के रस की बड़ी चर्चा सुनी थी, पर हमें तो एक फल भी नहीं मिला!' इसीलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि आम में फल तो आता है, पर बसंत ऋतु आने पर, बौर लगने के बाद ही आता है। फिर फल पकता है और तब रस प्राप्त होता है। इसी प्रकार सत्संग रूपी अमराई में–

श्रद्धा रितु बसंत सम गाई।।१/३६/१२

श्रद्धा रूपी बसंत लेकर जाने से ही आनंदानुभूति होगी। इसमें जो एक क्रम है उसे बताते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं कि श्रद्धापूर्वक संतसभा में जाने पर वे जो नियम–साधन बताएँगे, उनका पालन करना ही अमराई में बौर लगना है, क्योंकि–

सम जम नियम फूल,

और फिर इसके पश्चात्–

सम जम नियम फूल फल ग्याना।।१/३६/१४

उसमें जो फल आता है– **'फल ग्याना'** वह ज्ञान के रूप में दिखाई देता है। इसका अर्थ है कि **श्रद्धा लेकर सत्संग में जाने पर संत जो नियम और साधन बताते हैं, उनका पालन करने पर व्यक्ति को ज्ञान की प्राप्ति होती है।**

गोस्वामीजी इस क्रम में आगे बताते हैं कि फल–प्राप्ति ही अंतिम लक्ष्य नहीं है। क्योंकि आम में भी जो हरे रंग का फल लगता है, यद्यपि वह ऊपर से पुष्ट और पूर्ण दिखाई देता है, पर उसमें न तो रस होता है और न ही मिठास होती है। मिठास का अनुभव तो फल के परिपक्व

होने पर ही होता है। गोस्वामीजी इसका सूत्र देते हुए कहते हैं कि–

हरि पद रति रस बेद बखाना।।१/३६/१४

ज्ञान प्राप्ति के बाद जब अंतःकरण में भगवद्चरणों के प्रति 'रति' उत्पन्न होती है तब रस की अनुभूति होती है। ज्ञान (फल) रसमय हो जाता है। 'भक्तिरस' की इसी अद्वितीयता का अनुभव भगवान राम शबरी के फलों में करते हैं। यही वह 'सुरस' है जो संसार के विषयरस से ही नहीं, मुनियों के सानिध्य–सौजन्य से मिलने वाले ब्रह्मज्ञान के ब्रह्मरस से भी श्रेष्ठ है।

विषयरस की सीमा और कमियों से तो, कुछ काल तक उसके सेवन से, संसारी व्यक्ति भी परिचित हो जाता है। व्यक्ति चाहे जितना भी विषय रस प्राप्त कर ले, वह तृप्त नहीं हो पाता। विषय रस में तृप्ति प्रदान करने की क्षमता नहीं है। पर वेदान्त से प्राप्य ब्रह्मरस में यह दोष नहीं है। क्योंकि ब्रह्मरस पाकर व्यक्ति तृप्त हो जाता है।

ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न सामने आ जाता है कि 'फिर भक्तिरस में ऐसी कौन सी विशेषता है कि उसे ब्रह्मरस से भी श्रेष्ठ बताया गया है ?' ब्रह्मरस और भक्तिरस दोनों ही ईश्वर से जुड़कर रस प्रदान करते हैं, दोनों ईश्वर के ही रस हैं ?' पर भक्तों ने इन दोनों का अंतर बताते हुए बडी अद्भुत व्याख्या प्रस्तुत की है।

भक्त कहते हैं कि **विषय रस में अतृप्ति है और ब्रह्मरस में चिर तृप्ति है, पर भक्तिरस में तृप्ति होने के साथ-साथ निरंतर प्यास बनी रहती है, अतृप्ति बनी रहती है। चिर तृप्ति के साथ चिरअतृप्ति ही भक्ति रस का अनोखापन है।** भक्तिरस में प्रकाश और अंधकार, योग और वियोग आदि दो विरोधी पक्ष या धर्म साथ–साथ दिखाई देते हैं। 'मानस' के अनेक प्रसंगों में गोस्वामीजी ने भक्तिरस के अनुपम चित्र प्रस्तुत किए हैं।

गोस्वामीजी पुष्पवाटिका–प्रसंग में लिखते हैं कि सीताजी भगवान राम को खोज रही हैं। पढ़कर आश्चर्य होता है कि तात्विक दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं और व्यवहारिक दृष्टि से सीताजी निर्मल मति प्रदान

करने वाली हैं। वे तो सब कुछ जानती हैं, फिर भी व्याकुल होकर भगवान राम को ढूंढ रही हैं ! भक्ति में प्रभु को ढूंढने में भी आनंद की अनुभूति होती है। गोस्वामीजी उनकी व्याकुलता का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि–

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गए नृपकिसोर मनु चिंता।।१/२३१/१

कहाँ चले गए ? कहाँ खो गए ? कुछ समय बाद सखियाँ दिखाती हैं कि भगवान राम लता की ओट में हैं।

लता ओट तब सखिन्ह लखाए।
स्यामल गौर किसोर सुहाए।।१/२३१/३

अब दर्शन का आनंद मिला।

देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निज निधि पहिचाने।।१/२३१/४

वेदान्त में अद्वैत का, पाने का आनंद है पर भक्ति में ढूंढने की व्याकुलता में और उसके बाद पाने में, दोनों में ही आनंद है।

भक्तों के जीवन में बड़ी अनोखी बात दिखाई देती है। एक भक्त भगवान के पास पहुँचे और फिर घर की ओर वापस लौटने लगे ! किसी ने पूछ दिया– "तुम तो भगवान के पास थे, लौटकर क्या घर जा रहे हो ?"

–"नहीं, नहीं, मैं फिर से भगवान को पाने जा रहा हूँ !"

–"तुम तो दूर जा रहे हो, दूसरी दिशा में जा रहे हो ? यह कौन सा पाने का ढंग है ?"

भक्त ने कहा– "उनको पाने के लिए जब मैं आ रहा था तो मार्ग में आने वाले कष्ट इतना आनंद दे रहे थे कि उसका फिर से अनुभव करने के लिए बार–बार मन करता है, इसलिए वापस जा रहा हूँ और फिर लौट कर आऊँगा।" यही भक्ति का अनोखा रस है। परिक्रमा के पीछे भी मानो इसी रस–प्राप्ति की भावना है।

मन्दिर में भगवान का दर्शन करने के बाद परिक्रमा करने का नियम है। परिक्रमा क्यों ? भगवान के दर्शन तो हो रहे थे, परिक्रमा करने में तो वह छूट जाएगा, क्योंकि तब पीछे जाना पड़ेगा ! प्रभु का दिखाई देना बंद हो जाएगा। पर भक्त ऐसा नहीं मानते। क्योंकि परिक्रमा में दूर जाने के बाद, न दिखाई देने के बाद फिर वहीं लौट कर आने और फिर से दर्शन करने में उन्हें दुगने आनंद की अनुभूति होती है। इस प्रकार परिक्रमा में भक्त पग-पग पर आनंद प्राप्त करता है।

सीताजी को भगवान राम जब दिखाई पड़े तो पहले वे हर्षित होकर एकटक उन्हें देखती रहीं और फिर अंत में वे-

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी।।१/२३१/७

उन्हें अपने हृदय के भीतर ले आईं ! बड़ी विचित्र-सी बात है। पूछा जा सकता है कि 'क्या भगवान राम श्रीसीताजी के हृदय में पहले नहीं थे ?' 'मानस' में तो यही कहा गया है कि वे दोनों अभिन्न हैं तथा जानकीजी के हृदय में भगवान राम शाश्वत रूप से विद्यमान हैं।

गोस्वामीजी इसके द्वारा एक अद्‌भुत संकेत देते हैं। इसमें अद्वैत और द्वैत दोनों का आनंद है। पर यह द्वैत, सचमुच दो न होकर, शीशे में अपने आपको देखने जैसा ही है। व्यक्ति शीशे में अपने आपको देखते समय स्वयं को स्वयं से अलग पाता है। पर अलग दिखाई देने पर भी वह प्रसन्न ही होता है। भगवान राम और श्री सीताजी का यह द्वैत भी, दर्पण में दिखाई देने वाले द्वैत की तरह तत्वतः अद्वैत ही है, जो भक्तिरस के आनंद में वृद्धि करता है। भक्ति रस की विशिष्टता को प्रगट करने वाला एक और दृश्य जनकपुर के विवाह-मंडप में दिखाई देता है।

महाराज जनक ने जो मण्डप बनाया है उसमें चार खंभे हैं जिनमें मणि जड़े हुए हैं। वर्णन आता है कि जब भगवान राम और श्रीसीताजी भाँवरी लेते हुए परिक्रमा करते हैं तो महाराज जनक सीधे उन दोनों को भाँवरी लेते हुए देखने के स्थान पर उनकी यह छवि मणि-खंभों में देखते हैं।

राम सीय सुंदर प्रतिछाहीं।
जगमगात मनि खंभन माहीं।। १/३२४/३

पढ़कर आश्चर्य होता है ! खंभे में छवि कभी दिखाई देती है और कभी नहीं दिखाई देती फिर भी जनक जैसे ज्ञानी खंभे में क्यों देख रहे हैं ? पर गोस्वामीजी तो यही कहते हैं कि-

राम सीय सुंदर प्रतिछाहीं।
जगमगात मनि खंभन माहीं।।
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा।
देखत राम बिआहु अनूपा।।
दरस लालसा सकुच न थोरी।
प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी।।१/३२४/३-५

वस्तुतः आज तो ब्रह्मज्ञानी जनक **'प्रगटत-दुरत'** दोनों का ही आनंद ले रहे हैं। वे सोचते हैं कि 'मैं तो ब्रह्म को अब तक प्रगट और स्थिर मानकर ज्ञान का एक पक्षीय आनंद ही ले रहा था, पर आज तो 'दिखने' और 'न दिखने', प्रगट होने और छिपने, तथा संयोग और वियोग इन दोनों ही पक्षों के आनंद का लाभ प्राप्त हो गया।' भक्ति रस की यही विलक्षणता है जो ज्ञानियों को भी आकृष्ट करती है और वे ब्रह्मरस तक को भूल जाते हैं।

विवाह-मण्डप में श्रीसीताजी भी भगवान राम को देखती हैं। सीताजी उन्हें किस दृष्टि से देखती हैं ? गोस्वामीजी इसके लिए बड़ी सुन्दर उपमा देते हैं। वे कहते हैं कि-

पुनि पुनि रामहि चितव सिय सकुचति मनु सकुचै न।

सीताजी भगवान राम को बार-बार देखती रहती हैं।

सामान्यतया यदि किसी को बार-बार देखें, देखते ही रहें तो कुछ समय बाद देखने की इच्छा नहीं रह जाती, देखते-देखते व्यक्ति ऊब जाता है। इस संदर्भ में एक महिला का कथन याद आता है।

किसी महिला के पतिदेव बहुत दिनों की छुट्टी पर थे और घर पर

ही रहा करते थे। छुट्टी समाप्त होने पर जिस दिन वे 'आफिस' गए, पड़ोस की एक महिला ने पूछा– "बहुत दिनों की छुट्टी के बाद आपके पतिदेव आफिस गए हैं, आपको कैसा लग रहा है ?" –"दिन–रात उनकी सूरत देखते–देखते ऊब गई थी, चलो आज गए तो !" उन्होंने मानो एक चैन की सांस लेते हुए कहा। पर सीताजी के मन में प्रभु को बार–बार देखते रहने पर भी निरंतर देखने की इच्छा बनी ही रहती है। गोस्वामीजी इसके लिए मछली और जल का दृष्टान्त देते हैं।

हमें और आप सबको जल चाहिए। प्यास लगने पर हम बड़ी तीव्रता से जल पाना चाहते हैं। पर जल मिल जाने के थोड़ी देर बाद यही कहेंगे कि 'बस ! अब और नहीं पिएँगे !' पर मछली जो जीवनभर जल में ही रहती है, उससे यह पूछा जाय कि 'क्या जल से तुम्हारी तृप्ति हो गई?' तो वह तो यही कहेगी कि 'नहीं, नहीं, मैं तो अभी भी प्यासी हूँ और निरंतर जल में ही रहना चाहती हूँ।' गोस्वामीजी कहते हैं कि सीताजी के नेत्र भी मछली की तरह हैं जो प्रभु के छवि–रस का निरंतर पान करते रहना चाहते हैं।

पुनि पुनि रामहि चितव सिय सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर मीन छवि प्रेम पिआसे नैन।।१/३२६

निरंतर तृप्ति के बाद भी शाश्वत अतृप्ति का भाव बना हुआ है। ब्रज के भक्तों की भी यही मान्यता है।

भगवद्‌रसिकजी का एक पद है जिसमें वे कहते हैं कि राधाजी और श्रीकृष्ण दोनों पास–पास बैठे हुए हैं और परस्पर एक–दूसरे को देख रहे हैं– **'मिलइ रहत'**। यद्यपि वे अत्यन्त सन्निकट हैं पर दोनों को ऐसा लग रहा है कि–

मिलइ रहत मानो कबहुँ मिले ना !

'हम तो कभी मिले ही नहीं है !' सुनने वाले को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछ दिया– "महाराज ! यह क्या पहेली है ? मिले हुए होने पर भी उन्हें क्यों ऐसा लग रहा है कि नहीं मिले हैं ?" भगवद्‌रसिकजी ने कहा– "यह बात आपकी समझ में न आए तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि–

भगवदरसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोइ समझ सके ना।

भक्ति रस की बात तो कोई प्रेमी भक्त ही समझ सकता है।" भक्ति का रस ही कुछ ऐसा है जिसमें निरंतर तृप्ति और अतृप्ति का भाव बना रहता है, मिलन और वियोग की आँख–मिचौनी चलती ही रहती है और भक्तों को इस खेल के दोनों ही पक्ष आनंद से प्लावित कर देते हैं।

चित्रकूट में भी एक ऐसा ही वर्णन आता है। भगवान राम जिस वटवृक्ष के नीचे बैठते हैं गोस्वामीजी उसका जो वर्णन प्रस्तुत करते हैं, वह इन्हीं विरोधाभासी दो पक्षों की ओर संकेत करता है। वटवृक्ष के पत्ते नीले रंग के हैं तथा उसके फल लाल रंग के हैं। अब उन दोनों से मिलकर जो छवि बनती है, गोस्वामीजी उसके लिए यही कहते हैं कि–

नील सघन पल्लव फल लाला।
अविरल छाँह सुखद सब काला।।
मानहुँ तिमिर अरुनमय रासी।२/२३६/४,५

'लगता है अंधकार और प्रकाश एक साथ मिला दिए गए हैं।' भक्तिरस की लीला में धूप और छाँव दोनों ही आवश्यक हैं, आनंदप्रद हैं।

भगवान राम तत्वज्ञ, ब्रह्मज्ञ और ज्ञानवान मुनियों के फलों में भी स्वाद और तृप्ति का अनुभव करते हैं, पर शबरीजी के फलों में रस और स्वाद की पराकाष्ठा है। प्रभु खाते हैं, आनंद का अनुभव करते हैं, पर फिर भी इतनी भूख बनी हुई है कि–

केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात।
(गीतावली/३/६)

बार–बार मांग रहे हैं ! यह विलक्षण 'भगवद्‌रतिरस' केवल भक्तिमती शबरीजी के फलों में ही विद्यमान है जिससे प्रभु परम तृप्ति के साथ–साथ परम अतृप्ति का भी अनुभव करते हैं। इसलिए वे शबरीजी के फलों का स्वाद कभी नहीं भूल पाते।

।। बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।।

।। श्री रामः शरणं मम ।।

३

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं।।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।।३/३५

प्रभु के द्वारा कंद–मूल–फल स्वीकार कर लेने के बाद भक्तिमती शबरी उनके समक्ष हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती हैं और अत्यन्त विनम्र शब्दों में प्रभु से कहती हैं कि 'मैं नहीं जानती, किस विधि से आपकी स्तुति करूँ ? मैं जाति से अत्यन्त हीन, गवाँर और बुद्धिहीन नारी हूँ। मुझे उन शब्दों का भी ज्ञान नहीं है जिनसे मैं आपकी स्तुति कर सकूँ।'

प्रभु शबरीजी के इन वाक्यों का उत्तर देते हुए उनसे कहते हैं कि 'अभी आपने जो जाति, बुद्धि आदि की बातें कही हैं, समाज में भले ही लोग इनसे ऊँच–नीच का भेद करते हों, पर मैं जाति, पंक्ति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, परिवार, गुण और चतुरता, इन दस वस्तुओं को कोई महत्व नहीं देता। मैं तो एकमात्र भक्ति का ही नाता स्वीकार करता हूँ।' इसके पश्चात् भगवान राम शबरीजी से कहते हैं कि 'मैं आपको नवधा भक्ति सुनाना चाहता हूँ, उसे आप एकाग्र मन से सुनें !'

शबरीजी को लगता है कि वे इस योग्य भी नहीं हैं कि प्रभु की स्तुति तक कर सकें ! इसीलिए वे प्रभु से कहती हैं कि–

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी।३/३४/२

पर भगवान राम शबरीजी की इस असमर्थता की भावना का उत्तर एक विलक्षण पद्धति से देते हैं।

स्तुति करने की परंपरा प्राचीन काल से ही रही है। व्यक्ति मंदिर में जाता है तो देवता के दर्शन करता है और स्तुति करता है। देवता की प्रशंसा, महिमा और गुणगान में कहे गए वाक्यों के लिए 'स्तुति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो किसी न किसी रूप में किसी देवता या अन्य की स्तुति न करता हो। 'मानस' में 'स्तुति' के अनेक प्रसंग हैं जिनमें स्तुति के उद्देश्यों, विधियों व भेदों की ओर संकेत किए गए हैं। 'मानस' में भगवान राम की स्तुति के अनेक प्रसंग तो हैं ही, पर रावण की स्तुति का भी वर्णन आता है।

गोस्वामीजी रावण की सभा का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं जिसमें रावण अपने सभासदों और मंत्रियों से परामर्श करता हुआ दिखाई देता है। उसे जब यह समाचार मिलता है कि वानरों की विशाल सेना लंका की ओर अभियान कर रही है, तो वह उस सभा में सबसे पूछता है कि 'आप लोग बताइए कि इस समय अब हमें क्या करना चाहिए ?' इसे पढ़कर यही लगता है कि रावण जनभावना तथा मंत्रियों की सलाह को बड़ा महत्व देता है।

भगवान राम भी अपने मित्रों व मंत्रियों से विचार–विमर्श करते हैं। वे विभीषणजी से समुद्र को पार करने का उपाय पूछते हैं और विभीषणजी अपनी दृष्टि से उचित उपाय भी बताते हैं। भगवान राम उनकी सलाह का सन्मान करते हैं और उसका पालन भी करते हैं। पर रावण की सभा में एक भिन्न दृश्य सामने आता है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि रावण का प्रश्न सुनकर सभा में उपस्थित सब राक्षस सलाह देने के स्थान पर रावण की स्तुति करने लगे। वे कहने लगे– "महाराज ! यह प्रश्न आपके मुँह से शोभा नहीं देता। बंदरों को लेकर चिंता करने की बात आपके ध्यान में कहाँ से आ गई ?" फिर सबके सब रावण की स्तुति करने में जुट गए। गोस्वामीजी ने स्तुति के साथ एक शब्द और जोड़कर, स्तुति के पीछे जो उद्देश्य था उसे स्पष्ट कर दिया।'

स्तुति भी महिमा और गुणगान के रूप में एक प्रकार की प्रशंसा ही है। राक्षसगण जिस समय रावण की प्रशंसा कर रहे थे, उस समय

उनका ध्यान बस एक ही बात की ओर था। वे चाहते थे कि उनके द्वारा की जा रही प्रशंसा के वाक्य किसी तरह रावण के कानों तक पहुँच जाएँ! गोस्वामीजी लिखते हैं–

अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई।।५/३७/१

समाज में ऐसा बहुत होता है। पर यह स्तुति नहीं है। क्योंकि यह न तो अंतःकरण की भावना होती है और न ही इसमें वास्तविकता होती है। यह तो स्वार्थ–सिद्धि के लिए की गई एक झूठी प्रशंसा मात्र है।

रावण की सभा में इस समय रावण की प्रशंसा करने वाले वे ही राक्षस हैं जिनके बारे में गोस्वामीजी लिख चुके हैं कि–

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका।
जब ते जारि गयउ कपि लंका।।
निज निज गृहँ सब करहिं बिचारा।
नहिं निसिचर कुल केर उबारा।।
जासु दूत बल बरनि न जाई।५/३५/१-३

जब से हनुमानजी लंका जलाकर गए थे, ये सब राक्षस अत्यन्त भयभीत रहने लगे थे। वे परस्पर यही चर्चा करते रहते थे कि 'सारे निशाचरों का विनाश अब होने ही वाला है।' पर इस समय वे इससे बिल्कुल उल्टी बात कहकर रावण को प्रसन्न करने का प्रयास कर रहे हैं। यह तो स्तुति न होकर एक कपटयुक्त व्यवहार है। उनके हृदय की भावना कुछ और है तथा वाणी से वे कुछ और ही बात कह रहे हैं।

रावण उनकी बातों को सुनकर बड़ा प्रसन्न होता है। रावण ही क्यों, आज भी अनगिनत व्यक्ति ऐसे व्यवहार से बड़े प्रसन्न हो जाते हैं। कपट में भी की गई प्रशंसा सुनकर उन्हें बड़ा सन्तोष होता है। पर **कपट-प्रशंसा के रूप में की गई स्तुति, स्तुति का सबसे निंदनीय रूप है।** 'मानस' में स्तुति का एक व्यंग्यात्मक रूप भी है जो देवताओं के संदर्भ में आता है।

'मानस' में देवताओं के द्वारा भगवान राम की स्तुति करने के कई प्रसंगों का वर्णन किया गया है। देवगण भगवान राम की स्तुति करते

हुए कई प्रसंगों में दिखाई पड़ें, यह स्वाभाविक है। पर एक दिन कुछ भिन्न दृश्य सामने आता है, जिसमें देवता भगवान राम के स्थान पर 'कामदेव' की स्तुति करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू।१/८२/८

देवताओं की स्तुति सुनकर कामदेव प्रगट हो जाते हैं और अपने मन में विचार करने लगते हैं कि देवता कभी मेरी प्रशंसा नहीं करते थे, आज क्यों स्तुति कर रहे हैं ? पर जब देवताओं ने अपनी बात कामदेव के सामने रखी तो उस स्तुति के पीछे उनका जो उद्देश्य था उसे कामदेव ने समझ लिया।

सुरन्ह कही निज बिपति सब सुनि मन कीन्ह बिचार।
संभु बिरोध न कुसल मोहि बिहसि कहेउ अस मार।।
१/८३

पहले तो काम खूब हँसा, फिर बोला– "मैं समझ गया कि आज मेरी इतनी स्तुति क्यों की जा रही है ? भगवान शंकर के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करने के लिए ही आप मेरी स्तुति कर रहे हैं। आप चाहते हैं कि मेरे द्वारा उनकी समाधि भंग हो, वे विवाह करें और इसके पश्चात् उनके पुत्र के हाथों तारकासुर का संहार हो।"

'काम' इतना बुद्धिहीन नहीं है। वह देवताओं के उद्देश्य को तो समझ ही लेता है, पर साथ ही भगवान शंकर का ध्यान भगवान राम से हटाकर, उनके हृदय में विकृति उत्पन्न करने की चेष्टा का परिणाम भी वह अच्छी तरह से जानता है। इसलिए वह कहता है कि–

संभु बिरोध न कुसल मोहि,

'भगवान शंकर का विरोध करने के बाद मेरी कुशलता संदिग्ध है, फिर भी मैं आप लोगों की स्तुति को निरर्थक नहीं जाने दूंगा, और–

तदपि करब मैं काजु तुम्हारा।१/८३/१

आपका कार्य अवश्य सम्पन्न करूँगा।' फिर काम ने एक नई भाषा का प्रयोग करते हुए कहा–

श्रुति कह परम धरम उपकारा।।
पर हित लागि तजइ जो देही।
संतत संत प्रसंसहिं तेही।।१/८३/१,२

"शास्त्र कहते हैं कि परोपकार से बढ़कर कोई भी धर्म नहीं है। और जो परहित के लिए शरीर का त्याग करते हैं, संत सर्वदा उनकी प्रशंसा करते हैं।"

काम के इस कथन में एक व्यंग्य है। काम का अभिप्राय है कि 'संतों ने आज तक मेरी निंदा ही की है, पर जब मैं अपने शरीर का त्याग परोपकार के लिए कर दूँगा, तब संतों को भी मेरी प्रशंसा करनी ही पड़ेगी।'

स्तुति सुनकर काम जान जाता है कि स्तुति करने के पीछे देवताओं का स्वार्थ ही है। इस प्रकार काम को अपनी प्रशंसा सुनकर कोई भ्रम नहीं होता। प्रशंसा को सही मानकर भ्रमित हो जाना बड़ा दुखदाई होता है। अतः स्तुति के पीछे जो उद्देश्य है उसे जानने की आवश्यकता है। काम सब समझते हुए भी लोककल्याण के लिए अपने शरीर को समर्पित करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

'मानस' में परहित के लिए शरीर का परित्याग करने वाले एक और पात्र का वर्णन किया गया है। वे हैं गीधराज जटायु। जटायुजी सीताजी की रक्षा करने के प्रयास में रावण के हाथों घायल हो जाते हैं। बाद में वे भगवान राम की गोद में सिर रखकर अपना शरीर छोड़ देते हैं। भगवान राम उन्हें अपने धाम में स्थान प्रदान करते हैं। प्रभु गीधराज को पिता के समान सम्मान देते हैं और उनकी अंतिम क्रिया स्वयं अपने हाथों से करते हैं। प्रभु गीधराज को इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि–

तात कर्म निज तें गति पाई।३/३०/८

'आपको यह सौभाग्य अपने कर्म से मिला है, मेरी कृपा या दया से नहीं।' फिर प्रभु उस सर्वश्रेष्ठ कर्म की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि–

पर हित बस जिन्ह के मन माहीं।
तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।।३/३०/६

'परोपकार के लिए आपने अपने शरीर को विनष्ट हो जाने दिया, इसलिए आपसे बढ़कर महान और कौन होगा ?'

गीधराज और काम दोनों ने परहित के लिए शरीर का त्याग किया। दोनों के कर्म में यह समानता तो है ही, इसके परिणाम में मिलने वाले सौभाग्य में भी एक विचित्र–सी समानता दिखाई देती है। दोनों का ही भगवान से अत्यन्त निकट का संबंध जुड़ गया। गीधराज भगवान राम के पिता का स्थान पा गए और कामदेव भगवान के पुत्र बन गए।

'मानस' के ये प्रसंग बड़े सांकेतिक हैं। ये बताते हैं कि शास्त्र की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ धर्म कौन सा है ? **अन्य धर्मों को लेकर विवाद हो सकता है, पर परोपकार एक ऐसा धर्म है जो सबके लिए समान रूप से कल्याणकारी है।**

भगवान राम की स्तुति के प्रसंग 'मानस' भर में आते हैं। प्रारंभ में ब्रह्माजी के द्वारा, रावण के अत्याचार से मुक्ति की कामना से, प्रभु की बड़े सुंदर शब्दों में स्तुति की गई है। उस समय सारा संसार रावण के अत्याचार से संत्रस्त था। पर रावण को विनष्ट करने का उपाय किसी के पास नहीं था। देवता, मुनि, पृथ्वी आदि सब एक असहायता की स्थिति में अत्यन्त दुखी थे। उस समय ब्रह्माजी आंखों में आंसू भरकर, गद्गद कंठ से प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं–

जय जय सुरनायक

"हे देवताओं के नायक ! आपकी जय हो !"

भगवान तो अनंतकोटि ब्रह्माण्ड नायक हैं, पर यहाँ ब्रह्माजी शब्दों का चुनाव बड़ी सावधानी से करते हैं। इस समय स्तुति के पीछे उनका जो उद्देश्य है, ये शब्द ठीक उसके अनुकूल हैं। 'ब्रह्माण्डनायक' कहकर प्रभु से रावण को मारने की बात कहना उचित नहीं होता। अतः ब्रह्माजी ने उन्हें **'सुरनायक'** कहकर सबसे पहले अपने समूह का नायक बना लिया, अपने में सम्मिलित कर लिया। फिर दूसरा शब्द भी उन्होंने बड़ा

सार्थक चुना। उन्होंने कहा–

जय जय सुरनायक जनसुखदायक,

"आप हम देवताओं के नायक के रूप में अपने जनों को सुख प्रदान करते हैं।" पर इतने से ही ब्रह्माजी को संतोष नहीं हुआ। वे कहने लगे–

गो द्विज हितकारी जय असुरारी,

"आप देवता, विप्र और धेनु आदि के हितकारी ही नहीं, असुरों के शत्रु भी हैं।"

भगवान के विषय में तो यही कहा जाता है कि 'वे सबके हितैषी हैं, सबका कल्याण करते हैं, पर ब्रह्मा जी अपना भाव नहीं छिपाते। अपने उद्देश्य को प्रगट करने के लिए ही वे समुचित शब्दों का चयन करते हैं। वे केवल प्रशंसा करने की दृष्टि से स्तुति नहीं करते। मानो भगवान को वे उनकी इस प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाना चाहते हैं जिसमें वे घोषणा कर चुके हैं कि–

हम भक्तन के भक्त हमारे।

'मैं भक्तों का हूँ और भक्त मेरे हैं, इसलिए जो भक्तों का विरोध करते हैं, उन्हें दुख पहुँचाते हैं, मैं उन्हें विनष्ट कर देता हूँ।'

ब्रह्माजी की वाक्यावलि विलक्षण है। उसमें भावना और विचार का सुंदर सामञ्जस्य है। इसके साथ–साथ उद्देश्य की ओर भी संकेत किया गया है। **स्तुति में दो बातें प्रमुख होती हैं- स्तुत्य के गुणों की प्रशंसा और स्तुति करने वाले की आवश्यकता।** ब्रह्माजी की स्तुति में भगवान की महिमा का वर्णन है। वे कहते हैं कि–

जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा।
१/१८५/छं.

'प्रभु ! आप ही सृष्टि के अकेले निर्माता हैं। वेद, शारदा और शेष आपकी महिमा का वर्णन करने में असमर्थ हैं। आप गुणों के मंदिर हैं और दीनजनों से प्रेम करते हैं। आप हम पर कृपा करें !'

बहुत से लोगों को स्तुति करते समय यह ध्यान रहता है कि 'वे कितनी अच्छी स्तुति कर रहे हैं ? उनकी स्तुति लोगों को कैसी लग

रही है ? अच्छी लग रही है या नहीं लग रही है ?' पर यह तो उल्टी बात है। भगवान की स्तुति करते समय 'स्तुति भगवान को कैसी लग रही है ?' इसकी ओर ध्यान जाना चाहिए या लोगों को कैसी लग रही है, इसकी चिन्ता होनी चाहिए ? ब्रह्माजी अपनी कामना और कमियों को निःसंकोच और निष्कपट भाव से भगवान के सामने रख देते हैं। ब्रह्माजी को अपनी इस स्तुति का उत्तर भी तत्काल प्राप्त होता है।

अनेकानेक व्यक्ति मंदिर में अथवा साधना–उपासना स्थलों में जाकर स्तुति करते हैं। पर बिरले व्यक्तियों को ही उत्तर मिल पाता है। स्तुति का उत्तर मिले, वह स्तुति की परिपूर्णता का द्योतक है।

ब्रह्माजी की स्तुति में सकामता दिखाई देती है। शास्त्रों में निष्कामता की प्रशंसा और सकामता की निंदा की गई है। ऐसी स्थिति में **यदि व्यक्ति के मन में कामना हो और वह यह दिखाने का प्रयास करे कि 'वह निष्काम है', तो वस्तुतः यह निष्कामता न होकर कपट है।**

सकामता की निंदा इसलिए नहीं की गई है कि यह कोई अपराध है या दोष है, अपितु इसलिए की गई है, क्योंकि व्यक्ति कामना के कारण कभी–कभी ऐसे कार्यों में भी प्रवृत हो जाता है जिनका परिणाम बुरा होता है।

'कामना' के संबंध में सांसारिक व्यक्तियों की जो दृष्टि है उसमें तथा भगवान की जो दृष्टि है, दोनों में बड़ा अंतर है। व्यक्ति संसार में जब किसी के सामने अपनी कामना प्रगट करता है तो वह सामने वाले की दृष्टि में थोड़ा नीचे चला जाता है। कभी–कभी ऐसे व्यक्ति को स्वार्थी मानकर उसकी उपेक्षा भी कर दी जाती है। पर सकाम व्यक्ति को भगवान न तो हेय दृष्टि से देखते हैं और न ही स्वार्थी मान लेते हैं। यही ईश्वर की विशेषता है। वस्तुतः वे तो व्यक्ति की दीनता और अभावों को पूरी तरह मिटा देते हैं। इसीलिए गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में एक 'स्तुति–आरती' में कहते हैं कि–

हरति सब आरती आरती राम की।
दहन दुख-दोष, निरमूलिनी काम की।।

(विनयपत्रिका/४८/१)

यद्यपि 'विनयपत्रिका' में लिखी गई आरती को पढ़ने वालों की संख्या कम है, पर बहु–प्रचलित और प्रसिद्ध स्तुति–आरती–

'ॐ जय जगदीश हरे।

भक्त जनों के संकट क्षण में दूर करे।'

में भी व्यक्त भावना यही है। प्रत्येक व्यक्ति यही तो चाहता है कि उसकी कामना पूर्ण हो। ईश्वर ऐसी आरती और स्तुति को सुनता है और उन्हें पूरी भी करता है। कभी–कभी तो बड़ी अटपटी और उल्टी–सी बात भी सामने आती है।

विभीषण भगवान की शरण में आए। उन्होंने भगवान की स्तुति की और यह कह दिया कि 'प्रभु ! मैं छुपाऊँगा नहीं–

उर कछु प्रथम बासना रही।

आपके पास आते समय मेरे हृदय में कामना थी। पर–

प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।।५/४८/६

अब आपको देखकर कोई भी इच्छा शेष नहीं रह गई है। प्रभु आप धन्य हैं।' पर विभीषणजी की बात सुनकर प्रभु ने कहा–

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।

"भले ही तुम्हारी कोई इच्छा न हो, पर मैं तो तुम्हें लंका का राज्य अवश्य दूँगा। तुम्हें लंकेश बनाऊँगा ही !"

–"प्रभु ! मैं ऐसा न तो चाहता हूँ और न ही इसकी मुझे आवश्यकता है।"

–"मैं जानता हूँ, पर आवश्यकता तुम्हें नहीं मुझे है !"

–"आपको आवश्यकता है ? क्यों ?"

–"विभीषण ! संसार में मेरे विषय में यह प्रचार कर दिया गया है कि 'मैं बड़ा उदार हूँ। जो कोई मेरा दर्शन करता है उसे मैं कुछ–न–कुछ देता ही हूँ। उसे खाली हाथ नहीं लौटाता', अतः मैं तो तुम्हें दूँगा ही। और यदि तुम इसे स्वीकार नहीं करोगे तो मेरी कीर्ति ही नष्ट हो जाएगी। इसलिए तुम्हें तो लंका का राज्य स्वीकार करना ही पड़ेगा।"

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।

मोर दरसु अमोघ जग माहीं।।

अस कहि राम तिलक तेहि सारा।

सुमन बृष्टि नभ भई अपारा।।५/४८/६,१०

इससे तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रभु कामनायुक्त व्यक्ति को निंदनीय न मानकर उसका सम्मान ही करते हैं। पर गोस्वामीजी स्वार्थ के अतिरेक को भी उचित नहीं मानते। वे ऐसे व्यक्तियों की कड़े शब्दों में आलोचना करते हैं जो भीतर से स्वार्थयुक्त होते हैं पर वाणी से परमार्थ की बात करते हैं। ऐसा व्यवहार यदि देवता भी करते हैं तो गोस्वामीजी उनकी आलोचना करने से नहीं चूकते।

'मानस' में वर्णन आता है कि रावण–वध के पश्चात् देवतागण जब भगवान राम की स्तुति करने के लिए आते हैं तो गोस्वामीजी उनकी इसी दुर्बलता की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं कि–

आए देव सदा स्वारथी।

बचन कहहिं जनु परमारथी।।६/१०६/२

इसका अर्थ है कि हम पहले अपने हृदय में प्रभु की महिमा का अनुभव करें और तब उसके बाद उसे वाणी से व्यक्त करें !

एक सज्जन भगवान के सामने बैठे उनकी स्तुति कर रहे थे। स्तुति करते हुए वे कहने लगे– "प्रभु ! यदि आप प्रसन्न हैं तो संसार के सभी प्राणियों पर कृपा कीजिये।" सुनकर लगा कि ये तो बड़े परमार्थी व्यक्ति हैं। प्रभु को प्रसन्न कर सबका हित चाहते हैं ! पर उनके अगले वाक्य से उनकी कलई खुल गई। परमार्थ के पीछे जो स्वार्थ छुपा हुआ था वह सामने आ गया। वे कहने लगे "प्रभु ! आप सब पर कृपा कीजिए, पर प्रारंभ मुझसे कीजिए !"

स्तुतियों के और भी अनेक रूप हैं। 'विनयपत्रिका' में एक ऐसी स्तुति भी है जिसमें निंदा के ब्याज से बहुत सुंदर स्तुति की गई है। इसमें ब्रह्माजी शंकरजी की स्तुति करते हैं पर उन्हें सीधे न सुनाकर उनकी प्रिया पार्वतीजी को सुनाते हैं। और ब्रह्माजी स्तुति के लिए जिन

शब्दों का चयन करते हैं, जिस शैली का प्रयोग करते हैं, उससे यही लगता है कि वे स्तुति नहीं, निंदा कर रहे हैं। गोस्वामीजी इसके द्वारा मानो यह बताना चाहते हैं कि **स्तुति में शब्दों का नहीं, महत्व हृदय की भावना का होता है।**

एक दिन ब्रह्माजी कैलाश पर्वत पर पहुँच गए। वहाँ भगवान शंकर और पार्वती दोनों ही विराजमान थे। पर ब्रह्माजी ने भगवान शंकर की ओर देखा तक नहीं। उन्होंने पार्वतीजी को प्रणाम किया और उनसे कहने लगे–

बावरो रावरो नाह भवानी। (विनयपत्रिका/५)

"हे भवानी ! मैं आपको बताना चाहता हूँ कि आपके पति पागल हैं।"

–"कैसे ?"

ब्रह्माजी कहने लगे– "मैं प्रत्येक व्यक्ति के माथे पर उसका भाग्य लिख देता हूँ। उनमें से बहुत से ऐसे भी होते हैं जिनके मस्तक पर सुख का एक निशान भी नहीं होता। पर इनमें से जब कोई व्यक्ति जाकर शंकरजी की देहरी पर प्रणाम करता है, और इससे उसके सिर पर जो थोड़ा काला निशान–सा बन जाता है, आप जानती हैं कि आपके पति उस निशान का क्या अर्थ लेते हैं ?"

हम जानते हैं कि लिखने में यदि कुछ गलत लिख दिया गया हो, तो उसके नीचे निशान बना दिया जाता है कि जिससे बाद में उसे सुधारा जा सके।

ब्रह्माजी कहते हैं "शंकरजी उस व्यक्ति के सिर पर लगे निशान को देखकर सोचते हैं कि 'इस व्यक्ति का भाग्य लिखने में ब्रह्मा से कुछ–न–कुछ गलती रह गई होगी, इसीलिए तो उन्होंने यह निशान बना रखा है। अतः अब मैं ही इसे सुधार देता हूँ।' फिर वे मुझसे सीधे न कहकर उस व्यक्ति के ही हाथों अपना आदेश भिजवा देते हैं। और जिन लोगों के भाग्य में मैंने जीवनभर की दरिद्रता लिखी थी, उनके लिए स्वर्ग और इन्द्रलोक बनाने का आदेश प्राप्त होता है। अब आप ही बताइए,

यह पागलपन नहीं तो और क्या है ?

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुखकी नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत, हौं आयो नकवानी।।
(विनयपत्रिका/५/३)

रोज नए–नए स्वर्ग बनाते–बनाते मैं तो तंग आ चुका हूँ। यह कार्य अब मुझसे नहीं होगा। अब आप मुझे ब्रह्मा के पद से मुक्त कर दें तो आपकी बड़ी कृपा होगी !"

–"पर ब्रह्मा के पद से छुट्टी पाकर आप क्या करेंगे ?"

ब्रह्माजी ने कहा–"ऐसे ब्रह्मा के पद से तो भीख माँगना ज्यादा अच्छा है।

यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी।।

अतः मैं तो भीख माँग लूंगा।"

पार्वतीजी ने आश्चर्य से पूछा– " आप भीख माँगने का ही कार्य क्यों करेंगे ? कुछ और भी तो कर सकते हैं !" ब्रह्माजी ने कहा कि 'जब आपका पति भीख माँगकर भी विश्ववंद्य हो गया है तो मैं सोचता हूँ कि मेरे लिए भी यही कार्य ठीक रहेगा।'

वस्तुतः यह निंदा नहीं, व्यंग्य के द्वारा की गई प्रेम और माधुर्य रस से परिपूर्ण स्तुति है। गोस्वामीजी यही कहते हैं कि–

प्रेम-प्रसंसा विनय-व्यंगजुत, सुनि बिधि की बर बानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगत-मातु मुसुकानी।।
(विनयपत्रिका/५/५)

ब्रह्माजी की बातों को सुनकर पार्वतीजी के होठों पर हँसी आ जाती है और शंकरजी भी प्रसन्नता से मन ही मन मुस्कुराने लगते हैं।

शबरीजी कहती हैं कि 'मैं आपकी स्तुति करना नहीं जानती।' और ब्रह्माजी शंकरजी की सीधे–सीधे स्तुति करने के स्थान पर उनकी निंदा करते–से प्रतीत होते हैं। पर इन दोनों ही बातों में एक परस्पर संबंध है और इसमें एक सुंदर संकेत निहित है।

स्तुति हृदय के भाव को वाणी से प्रगट करने का प्रयास है, यह तो ठीक है। पर इसके द्वारा व्यक्ति स्तुत्य की महिमा और प्रशंसा को भी अभिव्यक्त करना चाहता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ईश्वर की स्तुति कर पाना तो संभव ही नहीं है। क्योंकि संसारी व्यक्ति की महिमा–प्रशंसा तो बढ़ा–चढ़ाकर भी की जा सकती है, पर ईश्वर की महिमा का वर्णन करते समय एक कठिनाई है। क्या व्यक्ति के लिए यह संभव है कि ईश्वर की महिमा का वर्णन कर सके? बढ़ाकर कहने की बात दूर रही, व्यक्ति जब भी ईश्वर की महिमा–वर्णन करेगा तो घटाकर ही करेगा। यह तो फिर निंदा ही हुई! इसलिए महाराज जनक जैसे तत्वज्ञ भगवान राम की स्तुति करते समय इस सत्य को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं–

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा।
मुनि महेस मन मानस हंसा।।१/३४०/४
मन समेत जेहि जान न बानी।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।।
महिमा निगम नेति कहि कहई।
जो तिहुँ काल एकरस रहई।।१/३४०/७,८

भक्तिमती शबरी इसलिए कह देती हैं कि 'प्रभु ! मैं आपकी स्तुति करना नहीं जानती।' और भगवान शंकर के संदर्भ में ब्रह्माजी का भी संकेत यही है कि 'स्तुति करने का भ्रम भले ही कोई पाल ले, ईश्वर की वह तो निंदा ही करेगा, इसलिए मैं तो सीधे ही निंदा किए दे रहा हूँ।' वस्तुतः ये तो प्रेम और भक्ति के महानतम सूत्र हैं जो इन स्तुतियों के माध्यम से प्रगट होते हैं।

भगवान राम 'जाति–पाँति' आदि जिन दस वस्तुओं के परित्याग की बात कहते हैं, वह भक्ति की इस विशेषता की ओर संकेत करने के लिए कही गई है कि भक्ति सबके लिए सुलभ है। पर व्यक्ति यदि चाहे तो इन सबका भी उचित उपयोग कर सकता है और अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

व्यक्ति धर्म के पालन में सात्विक अभिमान से अपना हित कर सकता है और विनाश से बच सकता है। जाति के सात्विक अभिमान से वह उन घृणित और अनुचित कार्यों से बच सकता है जो वर्जित हैं। इसलिए 'मानस' में एक ऐसा वर्णन भी आता है जहाँ जाति के अभिमान को जागृत कर कल्याण की दिशा में अग्रसर करने का प्रयास दिखाई देता है। हनुमानजी रावण को समझाते हैं तो कुल और जाति के विषय में उसे स्मरण दिलाते हुए यही कहते हैं कि– 'रावण ! तुम जरा विचार करके देखो कि जिस श्रेष्ठ कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, तुम्हारे कार्य उनके अनुरूप नहीं हैं।

देखहु तुम्ह निज कुलहि विचारी।
भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी।।५/२१/८
रिषि पुलस्ति जसु विमल मयंका।
तेहि ससि महुँ जनि होहु कलंका।।५/२२/२

जाति, कुल, देश आदि के अभिमान को एक सीमा तक स्वीकार करने पर ये सहायक हो सकते हैं। क्योंकि व्यक्ति इनसे अच्छी दिशा और सद्कार्य की प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। सात्विक अहं के साथ धर्म और कर्म पालन करने का सुखद परिणाम यह होगा कि एक दिन व्यक्ति उस अहं से भी मुक्त हो जाएगा। इसलिए धर्म से जुड़े यज्ञादि कर्मकाण्डों में अनुष्ठान का संकल्प लेते समय अनुष्ठानकर्ता के नाम के साथ–साथ उसके कुल–गोत्र–देश आदि का भी स्मरण किया जाता है। क्योंकि इनसे जुड़ा सात्विक अभिमान उस व्यक्ति को अपने संकल्प और सद्कार्य को पूरी निष्ठा से पूरा करने की प्रेरणा देता है।

इसका अर्थ है कि व्यक्ति प्रारंभ में ही गीता के त्रिगुणातीत स्थिति में पहुँचने की बात न करे। अपितु, इसके स्थान पर उसे सात्विक अहंकार को स्वीकार करके श्रेष्ठकर्म और धर्म–पालन की ओर प्रवृत होना चाहिए। अभिमान तो व्यक्ति में होता ही है, बस, उसे सात्विक दिशा में मोड़ने की ही आवश्यकता है।

वेदान्त में ज्ञान और अहं को जोड़ने वाला एक बड़े महत्व का सूत्र

है। जो ज्ञान है वह अहं का विस्तार ही है। वेदान्त में यह जो 'सोऽहं' कहा जाता है, उसमें मुख्य रूप से 'अहं' ही केन्द्र में है। 'मानस' में महर्षि लोमश जो ज्ञानमार्ग के आचार्य हैं, भुशुण्डिजी से यही कहते हैं कि–

सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा।
बारि बीचि इव गावहिं बेदा।।७/११०/६

'जिस ईश्वर को तुम ढूंढ रहे हो, उसमें और तुममें तत्वतः कोई भेद ही नहीं है।' इस प्रकार वे ब्रह्म और जीव की अभेदता का प्रतिपादन करते हैं। पर 'सोऽहं', 'शिवोऽहं' इन शब्दों के मात्र उच्चारण कर देने से व्यक्ति वेदान्त का ज्ञानी नहीं माना जा सकता। क्योंकि वाणी से ऐसा तो कोई भी कह सकता है। इसलिए इसके पीछे जो अनुभूति होनी चाहिए, महत्व उसका है।

'अहं' यदि किसी जाति, पद, वस्तु या गुण से जुड़ा है तो यह सीमित होने के कारण ज्ञान में बाधक है। ऐसा अभिमान समाज में टकराहट उत्पन्न करता है। एक का अहं, दूसरे के अहं से टकराता है। अतः ऐसा 'अहं' समाज के लिए उपयोगी नहीं है। इसलिए वेदान्त में 'अहं' के विस्तार की ओर संकेत करते हुए 'सोऽहं' की वृत्ति तक पहुँचने की बात कही गई है। 'सोऽहं' की अनुभूति की साधना का बड़ा विस्तृत वर्णन 'मानस' के ज्ञानदीपक–प्रसंग में किया गया है। यह साधना बड़ी कठिन सी लगती है। पर प्रारंभ में ही 'सोऽहं' शब्द को दुहरा देने से कोई लाभ नहीं होगा। इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से समझ सकते हैं।

जैसे, किसी विद्यार्थी को गणित का एक प्रश्न दिया जाए और कहा जाए कि वह उसको हल कर उसका उत्तर बताए। विद्यार्थी की स्थिति ऐसी है कि वह उस प्रश्न को हल करने की पद्धति से तो अनभिज्ञ है, किन्तु उसने उस गणित (के हल) का अंतिम अंश किसी तरह याद कर लिया है। अतः ऐसा विद्यार्थी उस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर लिख देगा। तो ऐसी स्थिति में क्या यह कहा जा सकता है कि ठीक उत्तर लिख देना, उसके गणित के ज्ञान का द्योतक है ? अंतिम उत्तर ठीक लिखने या बोल देने से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इस संदर्भ में मैं एक नवयुवक विद्यार्थी की बात नहीं भूल पाता।

वह नवयुवक पढ़ने–लिखने में बिल्कुल भी रुचि नहीं लेता था। उसका सारा समय पढ़ने–लिखने को छोड़कर अन्य कार्यों में ही बीतता था। पर जब उसका परीक्षाफल घोषित हुआ तो सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अच्छी श्रेणी के साथ सफलता प्राप्त की थी। मैंने उससे पूछा– "लगता है, तुम रात में पढ़ लेते होगे ! क्योंकि दिन में तो किसी ने भी तुम्हें पढ़ते हुए नहीं देखा है !"

–"नहीं, नहीं, रात को तो मैं खूब सोता हूँ।"

–"तब तुम फिर कैसे इतने अच्छे अंकों से पास हो गए ?"

उसने कहा– "इसका तो बड़ा सरल फार्मूला है– अकल + नकल = सफल।"

ऐसी सफलता को अनुभव और ज्ञान के मापदण्ड के रूप में नहीं लिया जा सकता। और यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह एक भ्रम की स्थिति होगी। इसी तरह 'सोऽहं' भी अंतिम उत्तर की तरह है, जिसे क्रमशः पाने की पद्धति 'मानस' में दी गई है। कागभुशुण्डिजी इसका वर्णन करते हुए गरुड़जी से कहते हैं कि–

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।७/११६/६

सबसे पहले श्रद्धा रूपी गाय चाहिए। उसके लिए–

जप तप ब्रत जम नियम अपारा।
जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।।
तेइ तृन हरित चरै जब गाई।७/११६/१०,११

चारा लाइए। दूध प्राप्त कीजिए। उससे दही जमाइए। उस दही का मंथन कर नवनीत प्राप्त कीजिए। उस नवनीत को भी शुद्ध बनाइए। अब जो घृत बना उससे दीपक जलाना होगा और इस प्रकार श्रद्धा से प्रारंभ करके विचार, विश्वास, वैराग्य, शुद्ध बुद्धि तक की प्रबल साधना के बाद ज्ञानदीप प्रज्वलित होगा।

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा।
दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।।७/११७/१

और इस ज्ञान के अखण्ड प्रकाश में सर्वत्र उस ब्रह्म को छोड़कर और कुछ भी दिखाई नहीं देता। इस प्रकार 'सोऽहं' की अनुभूति में सबसे अभिन्नता का बोध हो जाता है। 'अहं' अनंतता का विस्तार पा लेता है और यही ज्ञान का सच्चा स्वरूप है। भगवान शंकराचार्य भी ज्ञान की इसी स्थिति में 'शिवोऽहं–शिवोऽहं' का मंत्र देते हैं। पर भक्ति की बात अलग है।

शबरीजी योग और ज्ञान की परम अवस्था को प्राप्त हैं, पर वे प्रभु से विनम्रता से यही कहती हैं कि 'प्रभु ! मैं नहीं जानती कि आपकी स्तुति कैसे की जाती है !' भगवान राम उनकी इस बात का उत्तर एक विशिष्ट ढंग से देते हैं।

भगवान राम शबरीजी से कहते हैं– "शबरी ! मैं नवधा भक्ति का उपदेश दे रहा हूँ, आप उसे ध्यान लगाकर सुनिए !" बड़ी अनोखी बात है ! यदि शबरीजी ने प्रभु से अनुरोध किया होता, प्रश्न किया होता, तब वे उपदेश देते तो यह उचित था। शास्त्र तो यही कहते हैं कि–

ना पृष्ठः कश्चिद्ब्रूयात।

'बिना पूछे कुछ नहीं बताना चाहिए। सामने वाले पर अपनी बात आरोपित न करें !' साथ ही यह भी कहा गया कि–

न चान्याय पृच्छतः।

यदि सामने वाला ठीक पद्धति से नहीं पूछ रहा हो, तब भी उत्तर नहीं देना चाहिए। पर भगवान राम बिना शबरीजी के पूछे ही उन्हें नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं। इसके पीछे प्रभु की बड़ी मधुर भावना है।

भगवान राम शबरीजी से बताना चाहते हैं कि 'जैसा आप कह रही हैं कि आप स्तुति करना नहीं जानती ! अतः आप तो मेरी स्तुति नहीं कर पाएँगी, इसलिए मैं ही आपकी स्तुति करूँगा।' सचमुच नवधा भक्ति का उपदेश, मुख्य रूप से उपदेश न होकर, एक स्तुति ही है।

भगवान राम बोलने में अत्यन्त सावधान हैं। प्रभु यदि प्रारंभ में ही

इसे स्तुति का रूप दे देते और नवधा भक्ति के सभी लक्षणों का उनमें वर्णन करते हुए यह कहने लगते कि 'आपने तो बहुत सत्संग किया है, कथा सुनी है, गुरु चरणों की सेवा की है', आदि आदि, तो शबरीजी को बहुत संकोच होता। इसलिए भगवान सीधे स्तुति न करके, उपदेश के बहाने उनकी स्तुति करते हैं।

शबरीजी ने प्रभु का पूरा उपदेश सुना और फिर पूछ दिया– "प्रभु! मेरे लिए इनमें से कौन–सी भक्ति उपयुक्त होगी ?" भगवान बोले– 'यह उपदेश आपके लिए नहीं है।"

–"क्यों महाराज ?"

–"क्योंकि ये सब की सब भक्तियाँ आपमें विद्यमान हैं।"

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई।।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनी मोरें।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।।३/३५/६,७

इस एक वाक्य के द्वारा प्रभु उपदेश को स्तुति बना देते हैं। फिर वे शबरीजी से कहते हैं कि 'मैं आपको कुछ समझाने या बताने के लिए नहीं, अपितु आपसे पूछने और जानने की दृष्टि से आपके पास आया हूँ, अतः–

जनकसुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कहु करिबरगामिनी।।३/३५/१०

आप मुझे जनकसुता की 'सुधि' बताएँ और उन्हें वापस लौटाने का उपाय भी बताएँ।'

।। बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।।

।। श्री रामः शरणं मम ।।

४

भगवान राम और भक्तिमती शबरी के बीच जो संवाद होता है, उसे यदि बहिरंग दृष्टि से देखें तो ऐसा जान पड़ता है कि यह इतिहास की एक घटना है। यह भी सत्य है, पर जब उस पर गहराई से विचार करें तो उसका एक भिन्न स्वरूप सामने आता है।

जनकनंदिनी सीता का भगवान श्रीराम से वियोग हो चुका है। भगवान उनको खोजते हुए शबरीजी के आश्रम में आते हैं। यह कथा का एक पक्ष है। पर इसका एक दूसरा पक्ष भी है। इस घटना के पूर्व भगवान राम एकान्त में श्रीसीताजी से मिलकर एक योजना बनाते हैं और सीताजी से कहते हैं कि 'सीता ! लोक–कल्याण के लिए रावण का वध होना आवश्यक है। और उसके लिए मुझे एक नाट्य की सृष्टि करनी होगी, जिसमें आपकी भूमिका सबसे महत्व की होगी। इसलिए मैं चाहता हूँ कि आप एक रूप में तो अग्नि में निवास करें और दूसरे रूप में लीला में आपकी जो भूमिका है, उसका निर्वाह करें।' जनकनंदिनी सीता प्रभु की इस बात को स्वीकार कर अग्नि में समा जाती हैं और दूसरे, एक प्रतिबिम्ब के, रूप में भगवान राम के साथ दिखाई देती हैं। इस तरह दो कथा–चरित्र सामने आते हैं।

इस प्रकार कथा का एक पक्ष तो यह संकेत देता है कि सीताजी का हरण हुआ ही नहीं था पर दूसरी ओर वियोग और विलाप का वर्णन भी उतना ही सत्य प्रतीत होता है, जिसे सुनकर व्यक्ति का हृदय द्रवित हो जाता है। इन दो रूपों में प्रस्तुत करने के पीछे जो विशेष उद्देश्य है उसे समझने की आवश्यकता है। क्योंकि इसके बिना 'मानस' के अंतरंग अर्थ को हृदयँगम नहीं किया जा सकता। शबरीजी से प्रभु का जो संवाद है, वह इसी की एक कड़ी है।

भगवान श्रीराम शबरीजी से वार्तालाप करते हैं और फिर बिना उनके पूछे ही उन्हें उपदेश देने लगते हैं। उपदेश समाप्ति के पश्चात् वे शबरीजी से जनकनंदिनी की सुधि और उन्हें प्राप्त करने के विषय में प्रश्न कर देते हैं।

प्रभु का शबरीजी से प्रश्न करना थोड़ा विचित्र सा लगता है क्योंकि शबरीजी ने भौतिक अर्थों में सीताजी को कभी देखा ही नहीं था। और न ही उनके हरण या उसके बाद होने वाली घटनाओं को ही उन्होंने देखा था। फिर भी उनके विषय में प्रश्न करने का अर्थ तो यही है कि बाहर से प्रतीत होने वाली इन घटनाओं के अंतरंग में जो एक दिव्य रहस्यमयी धारा है, प्रभु उसे सामने लाना चाहते हैं। और इसके द्वारा व्यावहारिक और तात्विक इन दोनों पक्षों को सामने रखते हैं।

तात्विक पक्ष यह है कि श्रीसीताजी और भगवान राम कभी अलग हो ही नहीं सकते क्योंकि वे अभिन्न हैं। गोस्वामीजी वंदना–प्रसंग में इसी की ओर संकेत करते हैं। वे श्रीरामचंद्र व जनकनंदिनी श्रीसीताजी दोनों की एक साथ वंदना करते हुए यही कहते हैं कि–

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न।।१/१८

जैसे वाणी और अर्थ तथा जल और तरंग एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते, इसी प्रकार से सीताजी और भगवान राम अभिन्न हैं।

ये दोनों ही पक्ष महत्वपूर्ण हैं। तात्विक सत्य को, व्यक्ति जब इस गहराई से दृष्टि डालता है, तो हृदयंगम कर लेता है और हरण की घटना के रूप में जो व्यवहारिक सत्य है उसका अनुभव तो प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में करता ही है। इसे हम सिद्धि और साधना के सत्य के रूप में भी देख सकते हैं।

सिद्धि और साधना के सत्य अलग अलग होते हैं। सिद्धि का सत्य है कि श्रीसीताजी और श्रीराम कभी अलग होते ही नहीं। पर तात्विक रूप से ऐसा होते हुए भी दोनों अलग हुए यह साधना का सत्य है। और

उन दोनों को फिर से मिलाने के लिए जिस महत् प्रयास का वर्णन रामचरितमानस में किया गया उसमें ही साधना के अनुपम सूत्र विद्यमान हैं। इस संदर्भ में 'सुधि' शब्द बड़ा महत्वपूर्ण और विलक्षण अर्थ वाला है। इस सुधि शब्द का प्रयोग रामायण में बड़े रहस्यात्मक और सांकेतिक अर्थों में किया गया है।

एक नन्हा–सा शब्द है 'सुधि'। वैसे इसका अर्थ बड़ा सरल है। जब कोई किसी व्यक्ति या वस्तु की याद दिला दे अथवा कोई भूली बात याद दिला दे तो कहेंगे कि उसने सुधि दिला दी। रामायण में भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

बहुधा देखा जाता है कि व्यापार करने वाले लोग कुछ सांकेतिक शब्द बना लेते हैं कि कौन–सा शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त होगा। ग्राहक के सामने वे उसी सांकेतिक शब्दावली में परस्पर बात करते हैं और उसका अर्थ समझ लेते हैं। रामायण में भी कई प्रसंगों में यह बात सामने आती है।

वर्णन आता है कि भगवान श्रीराम जनकनंदिनी की खोज करते हुए लक्ष्मणजी से अपनी व्यथा व्यक्त करते हैं, तो इसी शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि 'हे लक्ष्मण ! मैं सीता के बिना व्याकुल हो रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि उन्हें पुनः लौटा लाऊँ। पर इसके लिए आवश्यक है कि उनकी 'सुधि' मिले।

एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं।
कालहु जीति निमिष महुँ आनौं।।४/१७/२

'लक्ष्मण ! एक बार किसी तरह से सुधि मिल जाए तो मैं काल को भी जीतकर सीताजी को ले आऊँगा।' पढ़कर आश्चर्य होता है क्योंकि 'मानस' में जो वर्णन है उसे पढ़कर तो यही लगता है कि भगवान राम जानते हैं कि सीताजी कहाँ हैं। क्योंकि गीधराज विस्तार से प्रभु को सीताहरण की घटना का समाचार दे चुके हैं। पर इस समाचार के बाद भी भगवान राम जिस 'सुधि' की प्रतीक्षा कर रहे हैं वह क्या है ? इससे तो यही लगता है कि इस शब्द का बाहरी घटनाक्रम से कोई मेल नहीं

है। हनुमानजी भी जनकनंदिनी से यही कहते हैं कि माँ विलंब हो रहा है उसका एकमात्र कारण यही है कि आपकी सुधि प्रभु को नहीं मिली है। क्योंकि–

जौं रघुबीर होति सुधि पाई।
करते नहिं बिलंबु रघुराई।।५/१५/१

इसका तात्पर्य है कि 'मानस' में सुधि शब्द का उपयोग गहरे और सांकेतिक अर्थों में किया गया है। वस्तुतः इस प्रसंग में तथा पूरे 'मानस' में विविध प्रसंगों के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया गया है कि ईश्वर और जीव के बीच दूरी उत्पन्न होना ही जीव की सबसे बड़ी समस्या है। मनुष्य के जीवन में दुख भी इसी के कारण दिखाई देता है। 'मानस' में इनसे छूटने के उपाय भी बताए गए हैं। इन प्रसंगों में भी गोस्वामीजी ने कई ऐसे सांकेतिक शब्दों का प्रयोग किया है जो गंभीर अर्थ वाले हैं। उत्तरकाण्ड के अंत में कागभुशुण्डिजी गरुड़जी से जब ज्ञान, भक्ति और प्रभु के रहस्यों का निरुपण करते हैं तो ऐसे कई शब्द आते हैं। वे कहते हैं–

सुनहु तात यह *अकथ कहानी।*
समुझत बनइ न जाइ बखानी।।
ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी।।
सो मायाबस भयउ गोसाईं।
बँध्यो कीर मरकट की नाईं।।
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई।।७/११६/१-४

गोस्वामीजी इसके बाद बताते हैं कि जब तक यह ग्रन्थि नहीं छूटती जीव सुखी नहीं हो सकता। व्यक्ति के भीतर जो मोहान्धकार है उसके कारण यह गाँठ दिखाई नहीं देती, अतः प्रकाश की आवश्यकता है। इसके पश्चात् गोस्वामीजी ज्ञानदीपक प्रज्वलित करने की विधि का बड़े विस्तार

से वर्णन करते हैं। पढ़ने में यह प्रक्रिया साधक को बड़ी कठिन प्रतीत होती है। फिर वे कहते हैं कि इस ज्ञानदीपक के प्रकाश में जीव उस गांठ को खोलकर बंधनमुक्त और सुखी हो सकता है।

इस पूरे प्रसंग को पढ़कर व्यक्ति पहले तो यही सोचता है कि जीव के लिए इतनी कठिन साधना कर पाना संभव है क्या ? पर जब उसकी दृष्टि इस प्रसंग के प्रारंभिक अंशों के कुछ शब्दों पर जाती है तो उसे बड़ा आश्चर्य होता है।

भुशुण्डिजी गरुड़जी से कहते हैं कि 'गरुड़जी मैं जो आपको सुनाने जा रहा हूँ, यह एक अकथ-कहानी है।

सुनहु तात यह अकथ कहानी।

अकथ-कहानी ? यह दो विरोधाभासी शब्दों के मिलने से बना शब्द है ! 'अकथ' का अर्थ है कि जो कहा न जा सके और 'कहानी' का अर्थ है, जो कही जाय ! यह तो एक पहेली हो गई !

–"महाराज ! जो अकथ है आप उसे कह कैसे रहे हैं ?" गरुड़ जी ने पूछ दिया। भुशुण्डिजी ने कहा– "इसे वाणी से पूरी तरह कह पाना तो संभव नहीं है, पर इसे समझा जा सकता है।"

समुझत बनइ न जाइ बखानी।

इसके बाद भुशुण्डिजी गरुड़जी से जो बात कहते हैं वह और भी विचित्र लगती है। वे कहते हैं कि जीव यद्यपि ईश्वर का अंश है पर वह माया की रस्सी से बँधा हुआ है और उस रस्सी में गांठ पड़ गई है–

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई।

फिर इसके बाद उस गांठ को खोलने के लिए 'ज्ञानदीपक' जलाने की कठिन साधना का वर्णन करते हैं, पर शुरु में ही एक बात कहकर अजीब संकट में डाल देते हैं जब वे–

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई।

'बांधने वाली रस्सी में गांठ पड़ गई है', ऐसा कहने के तुरंत बाद यह कहते हैं कि– **जदपि मृषा-** यद्यपि यह बंधन बिलकुल झूठा है, पर– **छूटत कठिनई-** इससे छूटना कठिन है।

इसका अर्थ है कि जिस तात्विक सत्य को जानना चाहिए और जो अन्त में अनुभूति का विषय बनता है, उस परम सत्य को यदि साधक प्रारम्भ में ही स्वीकार कर ले तो उस सत्य के तात्पर्य से वंचित हो जाएगा। इसलिए इसे क्रम से ही हृदयंगम करना होगा। इसी क्रम के महत्व को गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं वह बड़ा सांकेतिक है।

इस विषय में आधुनिक विज्ञान यह मानता है कि यह जो सृष्टि है वह भौतिक प्रकृति (जड़) का विकास है। पर भक्तिशास्त्र की मान्यता है कि यह चिन्मय का प्रकाश है। गोस्वामीजी ने कहा कि यह जो सृष्टि है वह किसी स्थूल जड़ प्रकृति का विकास न होकर चिन्मय तत्व का विलास है। किसी ने उनसे कहा– "महाराज यह तो न समझ में आने वाली बात है।" गोस्वामीजी ने कहा कि इसे समझने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है और इसके लिए पहले बुद्धि को शुद्ध करना होगा।

संसार में जो भी वस्तु सामान्य रूप से आँखों से नहीं दिखती उसे देखने के लिए चश्मा लगाया जाता है। पर चश्मा लगाने से पूर्व यह देखना पड़ता है कि चश्मा गंदा तो नहीं है। और यदि ऐसा है तो पहले चश्मे के शीशे को ही स्वच्छ किया जाता है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि हमारे पास सोचने–समझने का माध्यम बुद्धि ही है। अतः पहले यह देखना आवश्यक है कि हमारी बुद्धि ठीक है या नहीं ? क्योंकि यदि स्वयं बुद्धि में ही मलिनता है तो फिर हमें सत्य कैसे दिखाई देगा ?

गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' के एक पद में कहते हैं कि बुद्धि को पहले धोना होगा। पर सांसारिक जल से तो बुद्धि धुलेगी नहीं। उसे

धोने के लिए भगवान की भक्ति रूपी जल की आवश्यकता है। और भगवान की भक्ति से परिशुद्ध चित्त से ही यह अनुभव किया जा सकता है कि यह सृष्टि किसी जड़ प्रकृति का विकास न होकर चैतन्य का विलास है। फिर वे सावधान करते हुए कहते हैं कि यह न समझिएगा कि यह सत्य घंटे–दो–घंटे में ही समझ में आ जाएगा। वे कहते हैं कि–

रघुपति-भगति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास यह चिद्-बिलास जग बूझत बूझत बूझै।।
(विनयपत्रिका-१२४/५)

व्यक्ति इसको धीरे–धीरे समझते–समझते ही समझ पाएगा।

दृष्टान्त के रूप में कहा जा सकता है कि जब पहली कक्षा में बालक पढ़ता है तो उसे जो अर्थ बताया जाता है, वह समझने वाली बुद्धि की दृष्टि से न होकर, उसके याद करने की शक्ति को ध्यान में रखकर बताया जाता है। उसे यह याद करा दिया जाता है कि 'क' का अर्थ कबूतर होता है। छोटा बालक उसे याद कर लेता है। और उस उम्र में ऐसा करना आवश्यक भी है। बाद में वह क्रमशः उस अक्षर के अर्थ पर विचार करता है और साहित्य में प्रयुक्त उसके अंतरंग अर्थ को ज्ञात कर लेता है।

संसार के लिए जब यह कहा गया कि 'वह नहीं है', तो यह एक तात्विक सत्य है। इसलिए जो प्रतीति हो रही है, वह बंधन के कारण है। इसे हम एक दृष्टान्त के रूप में समझ सकते हैं। कई बार व्यक्ति को ऐसा लगता है कि मुझे अमुक रोग हो गया है और कभी–कभी तो इसके चलते एक उपहासास्पद स्थिति तक आ जाती है। इस संदर्भ में मैं एक संस्मरण भूल नहीं पाता।

हमारे एक परिचित बुद्धिजीवी हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय में जब वे पढ़ते थे तो अपने पाठ्य–ग्रन्थों को पढ़ने के साथ अन्य विविध विषयों के ग्रन्थों को भी पढ़ने का उनका व्यसन था। वे चिकित्सा के ग्रन्थों को भी पढ़ा करते थे। एक बार चिकित्सा के एक ग्रन्थ में उन्होंने किसी

एक रोग के लक्षण पढ़े। उन लक्षणों को पढ़कर उन्हें यह लगा कि 'ये सब लक्षण तो मुझमें घट रहे हैं, अतः मुझे यह रोग है।' तुरन्त वे एक डाक्टर के पास पहुँच गए। डाक्टर से वे यह भी कह सकते थे कि उन्हें क्या–क्या अनुभव होता है। पर ऐसा कहने के स्थान पर अपनी विद्वता दिखाने के लिए कि उन्होंने भी डाक्टरी का अध्ययन किया है, एक रोग विशेष का नाम लेकर कहने लगे कि 'डाक्टर साहब ! मुझे यह रोग हो गया है।' सुनते ही डाक्टर साहब ने हँसना प्रारम्भ कर दिया और बड़ी देर तक हँसते ही रहे।

वे सज्जन कहने लगे– "डाक्टर साहब ! मैं तो आपको अपना रोग दिखाने आया था पर आप तो हँसे जा रहे हैं !" डाक्टर ने कहा कि आप जिस रोग का नाम ले रहे हैं, वह केवल स्त्रियों को होता है, पुरुषों को होता ही नहीं है। लगता है आपने उस रोग के लक्षण ही पढ़े, पूरी बात नहीं पढ़ी कि यह रोग किसको होता है और किसको नहीं।

कई बार ऐसा होता है कि यदि डाक्टर रोगी से यह कह दे कि 'तुम्हें कुछ नहीं हुआ है', तो रोगी डाक्टर को ही मूर्ख मान लेता है। वह सोचता है कि यह डाक्टर तो कुछ नहीं जानता। पर बुद्धिमान चिकित्सक जानता है कि रोग की दवा से भी कठिन है भ्रम की दवा करना। ऐसी स्थिति में वह एक भिन्न पद्धति से इसका उपाय ढूंढ लेता है। वह रोगी से यह नहीं कहता कि उसे कोई रोग नहीं है, अपितु कहता है कि 'हम आपके रोग के लिए एक शक्तिशाली इन्जेक्शन देंगे और आप स्वस्थ हो जाएँगे।' फिर वह उसे परिशुद्ध जल या ग्लूकोज का इन्जेक्शन दे देता है। दो–चार दिनों में रोगी को लगने लगता है कि 'हाँ यह दवा तो ठीक है। डाक्टर बड़ा बुद्धिमान है, उसने मेरे रोग को पकड़ लिया और दवा देकर मुझे स्वस्थ बना दिया।'

ज्ञान का भी सत्य यही है। इसमें 'जो भ्रम है उसे पहले स्वीकार कर फिर उसका निवारण कैसे हो ?' इसका यत्न किया जाता है। 'मानस' में एक दृष्टान्त आता है। जब मेघनाद के प्रहार से लक्ष्मणजी मूर्छित होकर गिर जाते हैं तो भगवान राम उन्हें गोद में लेकर आँसू बहाने लगते

हैं। इसके पश्चात् लंका से वैद्य बुलाया जाता है। सुषेण वैद्य स्वस्थ होने के लिए औषधि बताते हैं और कहते हैं कि 'यह औषधि हजारों योजन दूर द्रोणाचल पर्वत से, सूर्योदय से पहले आ जानी चाहिए। अन्यथा इनके प्राण की रक्षा नहीं हो पाएगी।' हनुमानजी औषधि लेकर आते हैं और लक्ष्मणजी चैतन्य हो जाते हैं।

दूसरी बार भी लक्ष्मणजी रावण के बाण लगने से मूर्छित हो जाते हैं। हनुमानजी उन्हें उठाकर लाते हैं और प्रभु की गोद में रख देते हैं। बंदरों को लगता है कि पुनः वैसा ही लम्बा घटनाक्रम दुहराया जाएगा। वैद्य आएगा, दवा बताएगा, हनुमानजी दवा लेने जाएँगे और तब पुनः लक्ष्मणजी चैतन्य होंगे। पर इस बार वन्दर चकित हो जाते हैं क्योंकि वैसा कुछ नहीं हुआ। वे देखते हैं कि भगवान राम अपना मुँह लक्ष्मणजी के कान के पास ले गए और धीरे से यह कह दिया–

तुम्ह कृतांत भच्छक सुर त्राता।६/८३/६

"लक्ष्मण ! तुम तो काल को खाने वाले हो।" इस शब्द को सुनते ही

सुनत बचन उठि बैठ कृपाला।६/८३/७

लक्ष्मणजी चैतन्य हो गए और उठकर बैठ गए। बंदरों को लगा कि यह तो बिल्कुल नई बात हो गई।

दोनों प्रसंगों का तात्पर्य यही है कि पहले प्रसंग में यदि शरीर, रोग, वैद्य और दवा की स्वीकारोक्ति है तो दूसरे में भगवान राम लक्ष्मणजी को उनके स्वरूप का बस स्मरण मात्र करा देते हैं।

शबरीजी के प्रसंग में भी यही बात आती है। भगवान राम ने शबरीजी से कहा– "शबरीजी ! मेरे दर्शन का फल बड़ा अनोखा है।" –"महाराज! दर्शन होने पर आप क्या देते हैं ?" प्रभु कह सकते थे कि 'अर्थ देता हूँ, धर्म देता हूँ, काम देता हूँ और मोक्ष देता हूँ।' पर भगवान राम ने कहा– "मैं इनमें से कुछ भी नहीं देता।" –"तो फिर आपके दर्शन में अनोखापन क्या है ?" भगवान राम कहते हैं–

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा।।३/३५/६

मेरे दर्शन से जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है जिसे वह भूल चुका है। 'मानस' के ऐसे प्रसंगों के माध्यम से सुधि शब्द के अर्थ को समझने में सहायता मिलती है। महाराज दशरथ के प्रसंग में भी 'सुधि' की एक सांकेतिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

धनुर्भंग के पश्चात् जनकपुर के दूत यह समाचार लेकर अयोध्या आते हैं। महाराज दशरथ जब सुनते हैं कि जनकपुर से दूत संदेश लेकर आए हुए हैं तो वे उन्हें बुलाकर अपने पास बैठा लेते हैं। और फिर उनसे बार–बार प्रश्न करने लगते हैं। दूत आश्चर्यचकित होकर सोचते हैं– 'ये इतने प्रश्न क्यों पूछ रहे हैं ? क्या यह समाचार इनको पहले से ज्ञात नहीं था ?' महाराज मानो उन दूतों के मनोभावों को भाँप लेते हैं और कहते हैं कि–

जा दिन तें मुनि गए लवाई।
तब ते आजु *साँचि सुधि* पाई।।१/२६०/७

'हाँ, हाँ ! समाचार तो मिला था पर सच्ची सुधि तो आज आप लोगों से ही मिली है।'

महाराज दशरथ के कथन से तो यही लगता है कि सुधि झूठी भी हो सकती है। उनकी यह बात ठीक है और यह दिखाई भी देती है। संसार की सुधि दिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। व्यक्ति बिना सुधि दिलाए ही इसमें इतना तदाकार रहता है कि उसका ध्यान ईश्वर की ओर जाता ही नहीं है। यद्यपि ईश्वर की 'सुधि' ही वास्तविक सुधि है, पर प्रश्न यह है कि 'सच्ची सुधि कौन दिला सकता है ?'

महाराज दशरथ उन दूतों को इसका प्रमाण पत्र तो देते हैं, पर इससे पहले वे मानो उनकी बड़ी कड़ी परीक्षा भी लेते हैं और उनके सामने प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं। ये प्रश्न बड़े अटपटे से लगते हैं और पढ़कर हँसी भी आ जाती है।

महाराज दशरथ उनसे प्रश्न पूछना प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि–

भैआ कहहु कुसल दोउ बारे।१/२६०/४

मेरे दोनों नन्हें बालक कुशल से तो हैं ना ? आप लोगों ने उन्हें आँखों से देखा भी है या आप लोग संदेश लेकर ही चले आए हैं ?

यह तो प्रत्येक वक्ता से पूछा जा सकता है कि 'जो आप सुना रहे हैं, वह स्वयं आपका अनुभव है या कहीं से पढ़–सुनकर सुना रहे हैं ?' बड़ी कठिन कसौटी है। किसी ने कबीर से कह दिया– "आप पढ़े लिखे तो नहीं है, पर लोग आपकी बातों को इतना महत्व क्यों देते हैं ?' उन्होंने कहा– "इसका एक ही कारण है कि–

तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता आँखिन की देखी।।

तुम वह कहते हो जो तुमने कागज में पढ़ा है, पर मैं वह कहता हूँ जो मैंने अपनी आँखों से देखा है।" भुशुंडिजी भी यही दावा करते हुए कहते हैं कि–

यह सब मैं निज नयनन्हि देखी।

महाराज दशरथ ने भी यही प्रश्न कर दिया कि क्या आप लोगों ने उन्हें देखा है ? दूत कह सकते हैं कि हम जनकपुर से पत्र लेकर आ रहे हैं फिर भी आप यह प्रश्न कर रहे हैं ? पर वे मौन रहे। उनको मौन देखकर दशरथजी फिर पूछने लगे– "आपने देखा है तो अपनी आँखों से देखा है कि नहीं ? और यदि आपने अपनी आँखों से देखा है तो अच्छी तरह से देखा है कि नहीं देखा है ?

भैआ कहहु कुसल दोउ बारे।
तुम्ह नीकें निज नयन निहारे।।१/२६०/४

दूत फिर भी मौन रहे। यह देखकर महाराज दशरथ कहने लगे– "आप चुप हैं, इसका अर्थ कहीं यह तो नहीं है कि आपने देखा ही न हो, आपको पत्र दे दिया गया हो और उसे लेकर आप चले आए हों? अतः मैं आपको अपने दोनों पुत्रों का रूप–रंग बता रहा हूँ।" फिर वे

लक्षण बताते हुए कहने लगे– "**श्यामल गौर**- मेरा एक पुत्र साँवले रंग का है तथा दूसरा गोरे रंग का है।" अब न जाने कितने साँवले–गोरे रंग के राजकुमार जनकपुर में आए हुए होंगे ?

फिर महाराज दूसरा लक्षण बताते हुए कहते हैं कि वे धनुष–बाण लेकर चलते हैं। तो धनुष–बाण वाले भी अनेक राजकुमार वहाँ आए रहे होंगे। –"संभवतः आपका ध्यान उनकी ओर न भी गया हो तो मैं बताना चाहता हूँ कि आपने उनको यदि देखा होगा तो महर्षि विश्वामित्र के साथ देखा होगा।" महाराज दशरथ उनको ध्यान दिलाते हैं। पर दूत बिल्कुल मौन हैं। यही जनकपुर के दूतों की विशेषता है। उत्तर देने का उतावलापन उनमें नहीं है। महाराज दशरथ पुनः बड़े स्नेह और अनुराग से कहने लगते हैं कि–

पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ।१/२६०/६

आप लोगों का उनसे परिचय हुआ या नहीं ? यदि हुआ है तो आप उनका स्वभाव बताइए ! और यदि आपने उनका स्वभाव बता दिया तो मैं समझ लूँगा कि आप सच्ची सुधि देने वाले हैं।

दशरथ जी इतना कहकर ही संतुष्ट नहीं हो जाते। वे उनसे एक अंतिम प्रश्न और करते हुए कहते हैं कि–

कहहु बिदेह कवन बिधि जाने।१/२६०/८

'अच्छा बताओ ! विदेह ने मेरे पुत्रों को कैसे जान लिया ?'

इसके बाद दूतों ने जो उत्तर दिया, वह बड़ा तात्विक उत्तर था। उन्होंने कहा– "महाराज ! आपके पुत्रों को तो विदेह ही जान सकते हैं। क्योंकि जो उन्हें देह मानकर देखेगा, वह तो उन्हें जान ही नहीं सकता। फिर **'कवन बिधि'** के बारे में उन्होंने जो उत्तर दिया वह बड़े महत्व का है। इसका उत्तर देते हुए दूतों ने महाराज से ही पूछ लिया– "महाराज! अँधेरे में दीपक के प्रकाश में हम संसार की सब वस्तुओं को देखते हैं। पर क्या सूर्य उदय होने के बाद कोई कहता है कि जरा दिया तो जलाना उसके प्रकाश में देखें कि सूर्य निकल आया कि नहीं ?"

जिन्ह के जस प्रताप कें आगे।
ससि मलीन रबि सीतल लागे।।
तिन्ह कहँ कहिअ नाथ किमि चीन्हे।
देखिअ रबि कि दीप कर लीन्हे।।१/२९१/२, ३

बुद्धि का दीपक व्यवहार को प्रकाशित भले ही करे, उसके प्रकाश में परब्रह्म को नहीं देखा जा सकता। फिर दूतों ने कहा– "महाराज! जिस दिन से आपके पुत्रों को देखा है, कुछ और दिखाई देना ही बंद हो गया है !"

देव देखि तब बालक दोऊ।
अब न आँखि तर आवत कोऊ।।१/२९२/५

इस संवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि जनकपुर से जो दूत आए हुए हैं, वे मात्र साधारण समाचार–वाहक डाकिये की तरह पत्र लेकर ही नहीं आए हुए हैं, अपितु उस ब्रह्म को तत्वतः जानने वाले हैं। उनका उत्तर सुनकर महाराज दशरथ को लगता है कि सही सुधि तो आज ही मिली है।

गोस्वामीजी मानो बताना चाहते हैं कि सुधि देने वाला कितना महत्वपूर्ण है ! वह जिसका समाचार लेकर आया है, उसको जानता भी है कि नहीं जानता ? वैसे सुधि देने वाले तो व्यवहार में अनेक हैं। पर कह सकते हैं कि जीव तथा ईश्वर दोनों की यही समस्या है कि कोई ऐसी सुधि दिलाने वाला मिले जो जीव की सुधि ईश्वर को दिला दे और ईश्वर की सुधि जीव को दिला सके। जीव का स्वभाव तो भूलने का ही है। 'मानस' में सुग्रीवजी के प्रसंग में यह बात सामने आती है।

प्रभु से मिलने से पूर्व बालि के भय से सुग्रीव भागते रहे। प्रभु ने सुग्रीव से मित्रता की और बालि का वध कर सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बना दिया। पर राज्य प्राप्त करने के बाद सुग्रीव भगवान राम और उनके द्वारा सौंपे गए कार्य को भूल गए। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में उसका आध्यात्मिक रूप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि सुग्रीव जीव हैं

और बालि व्यक्ति के कर्म का प्रतीक है।

इसका अर्थ है कि कर्म का जो बालि है वह जीव रूपी सुग्रीव का पीछा करता रहता है। और सुग्रीव की तरह व्यक्ति भागकर कहीं भी चला जाए कर्म उसका पीछा नहीं छोड़ता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति कर्म के इस त्रास से बचने के लिए भागकर कहाँ जाए ? क्योंकि वह जहाँ भी जाएगा कर्म उसका पीछा करेगा ही। गोस्वामीजी कहते हैं कि इसका बस एक ही उपाय है कि व्यक्ति सुग्रीव की तरह ही ऋष्यमूक पर्वत पर चला जाए। ऋष्यमूक पर्वत सत्संग का प्रतीक है।

सत्संग ही एकमात्र ऐसा स्थल है जहाँ व्यक्ति कर्म के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। प्रभु ऋष्यमूक पर्वत पर आते हैं और सुग्रीव को स्वीकार करते हैं और न केवल उसे कर्म के भय से ही मुक्त करते हैं, अपितु सुग्रीव को किष्किंधा का राज्य भी दे देते हैं। पर जीव की विडंबना सामने आ जाती है।

सुग्रीव राज्य मिलने पर भगवान को भूल गए। यही तो हम सबकी दशा है। विपत्ति में हम भागे–भागे फिरते हैं, पर भगवान जब कृपा कर सुख प्रदान करते हैं, राज्य प्रदान करते हैं तो हम यह नहीं देखते कि यह किसने दिया है ? अपितु उन वस्तुओं का आनन्द लेने में निमग्न हो जाते हैं और उस देने वाले को भुला देते हैं। भगवान राम ने जब देखा कि जीव ने मेरा विस्मरण कर दिया है, तो वे लक्ष्मणजी से कहते हैं– "लक्ष्मण ! तुमने देखा–

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी।।४/१७/४

सुग्रीव राज्य, धन, सम्पत्ति पाकर मेरी सुधि भूल गया।" हम सब सुग्रीवों (जीवों) की दशा एक ही है। भगवान अगर हमको कुछ दें तो हम सबसे पहले भगवान की ही सुधि भुला देते हैं। लक्ष्मणजी ने आश्चर्य से प्रभु की ओर देखा– "फिर आपने कोई निर्णय लिया है क्या ?" –"हाँ! मैंने निर्णय कर लिया है कि–

जेहिं सायक मारा मैं बाली।

तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली।।४/१७/५

"जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, मूर्ख सुग्रीव का वध भी कल उसी बाण से करूँगा।" बहुत बड़ी बात कह दी गई।

बाल्मीकि रामायण में यह बात दूसरी तरह से आई है। उसमें भगवान राम लक्ष्मणजी को यह कहकर किष्किन्धा भेजते हैं कि तुम सुग्रीव से जाकर कहना कि 'जिस मार्ग से तुम्हारा भाई बालि गया है वह बड़ा चौड़ा मार्ग है। तुम भी उस मार्ग से जा सकते हो।' इसका अर्थ है कि मानो प्रभु यह बताना चाहते हैं कि 'सब कुछ पाकर मुझे भुला तो दिया, पर उस बाण को मत भूलो। प्रभु का यह बाण कौन सा है ? गोस्वामीजी कहते हैं कि–

लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड।

भजसि न मन तेहि राम को काल जासु कोदंड।।६/०

काल ही प्रभु का बाण है। व्यक्ति को उस दिन की निरंतर याद रखनी चाहिए जब काल का बाण चलेगा। क्योंकि काल के बाण को कोई रोक नहीं सकता। एक न एक दिन वह चलेगा ही।

प्रभु की बात सुनकर लक्ष्मणजी ने कहा– "अगर आप आज्ञा दें तो मैं जाकर सुग्रीव का वध कर दूँ! आप क्यों कष्ट करेंगे ?" प्रभु मुस्कुराने लगे– "क्या तुम यह सोच रहे हो कि मैं सचमुच सुग्रीव को मारना चाहता हूँ ? –"तो ?" "बात यह है कि वह डर के मारे ही मेरी याद कर रहा था। और जब मैंने बालि का वध कर दिया तो उसका डर छूट गया। डर छूट गया तो मेरा स्मरण भी छूट गया। बस, तुम्हारा कार्य यही है कि तुम जाकर फिर से उसे डरा दो। यदि वह बिना डर के भक्त नहीं बनता, तो उसे फिर से डराना होगा।"

संसार में भी अधिकांश लोग या तो डर के मारे भगवान को याद करते हैं या फिर लोभ के कारण याद करते हैं। भगवान को याद करने के बस दो ही मुख्य कारण हैं।

लक्ष्मण जी मुस्कुराए और जाने लगे। पर जब लक्ष्मणजी जाने लगे तो प्रभु ने कहा– "लक्ष्मण ! तुम जा तो रहे हो, पर मुझे डर लग रहा है !" –"क्या आपको इसलिए डर लग रहा है कि मैं अकेले वहाँ जा रहा हूँ ?" –"नहीं, नहीं मैं जानता हूँ कि तुम अकेले ही बहुत हो। मुझे डर इसलिए लग रहा है कि जिसके पास तुम जा रहे हो, वह जितना डरपोक है उतना ही बड़ा भगोड़ा भी है। डरने पर भागना उसका स्वभाव बन गया है। इसलिए जब तुम उसे डराओगे तो वह अवश्य भागेगा। अतः तुम उसे ऐसे डराना कि वह दूर न भाग जाए, अपितु डरने के बाद भागकर इधर मेरी ओर ही आए।" गोस्वामीजी कहते हैं कि–

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।

भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।।४/१८

'प्रभु डर भी देते हैं तो अपने पास बुलाने के लिए ही देते हैं।' जीव भगवान का मित्र है। प्रभु चाहते हैं कि जीव मेरी सुधि न भूल जाए। हनुमानजी वहाँ सुग्रीव के पास रहकर भी इस बात को समझ जाते हैं कि 'अरे सुग्रीव तो भगवान की सुधि भूल गया।' और वे वह कार्य सम्पन्न कर देते हैं जो प्रभु लक्ष्मणजी से कराना चाहते हैं। वे सुग्रीवजी के पास आकर उन्हें भगवान की सुधि दिला देते हैं। भगवान की सुधि दिलाने का कार्य हनुमानजी से बढ़कर और कौन कर सकता है ? इसलिए आगे चलकर जब भगवान राम हनुमानजी को सीताजी का पता लगाने के लिए लंका भेजते हैं, तो उन्हें सुधि दिलाने का कार्य भी सौंपते हैं।

इसका अभिप्राय है कि जीव और ईश्वर की जो दूरी है वह वास्तविक नहीं है। यह समस्या तो सिर्फ विस्मृति की है। ऐसा लगता है कि जीव ईश्वर को भूल गया है और ईश्वर भी जीव को भूला हुआ सा प्रतीत होता है। इसी विस्मृति का निवारण ही वस्तुतः सुधि है और जो यह कार्य संपन्न कर सके, वही सच्ची सुधि दिलाने वाला है।

गोस्वामीजी भी चाहते हैं कि भगवान उनकी सुधि लें। इसके लिए वे भगवान के नाम एक पत्र लिखते हैं। साथ ही वे श्री लक्ष्मणजी, श्री भरतजी तथा हनुमानजी आदि सभी उन पात्रों से भी प्रार्थना करते हैं

जो प्रभु के सन्निकट रहते हैं। वे चाहते हैं कि ये सब उनकी पत्रिका भगवान राम के हाथों तक पहुँचा दें ! यह सब करने के बाद तुलसीदासजी स्वयं जनकनंदिनी सीताजी के पास पहुँच जाते हैं और उनसे विनम्रता से निवेदन करते हैं कि 'मां ! मैं आपके पास एक प्रार्थना लेकर आया हूँ !"

–"हाँ ! हाँ ! कहो तुलसीदास ! तुम क्या चाहते हो ?"

–"मां ! आप प्रभु को मेरी सुधि दिला दीजिए !"

–"अरे ! तुमने इतने लोगों से तो कह दिया है ! फिर मुझसे क्यों कह रहे हो ?"

गोस्वामीजी कहते हैं– "मां ! हमारे प्रभु बड़े भुलक्कड़ स्वभाव के हैं।"

कबहुँ समय सुधि द्यायबी, मेरी मातु जानकी।
बानि बिसारनसील है मानद अमान की।।
(विनयपत्रिका-४२)

यह भक्तों की मीठी भाषा है। गोस्वामीजी कहते हैं कि 'मां ! यद्यपि प्रभु का स्वभाव भूलने का है पर प्रभु को सुधि दिलाने में आपकी भी बराबरी विश्व में कोई नहीं कर सकता।' सीताजी गोस्वामीजी की सुधि प्रभु को दिलाकर उन्हें धन्य बना देती हैं। पर सुधि दिलाने में धन्य हैं शबरीजी!

शबरीजी. उन सीताजी की सुधि भगवान राम को दिलाती हैं जो स्वयं सब जीवों की सुधि प्रभु को दिलाने वाली हैं !

।।बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।।

।। श्री रामः शरणं मम ।।

५

शबरीजी भगवान राम को कंद–मूल–फल अर्पित करने के बाद प्रभु के सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती हैं और अत्यन्त विनम्रता से प्रभु से निवेदन करती हैं कि 'प्रभु ! मैं आपकी स्तुति करना तो चाहती हूँ, पर यह नही जानती कि आपकी स्तुति किस विधि से की जाती है।'

शास्त्रों में पूजन के अंत में स्तुति करने की बात कही गई है। यदि इस दृष्टि से देखें तो शबरीजी ने प्रभु का पूजन भी किसी ऐसी पूजा–पद्धति से नहीं किया जिनका वर्णन शास्त्रों में किया गया है। पंचोपचार, दशोपचार व षोडषोपचार आदि पूजा की अनेक विधियाँ हैं। इनमें सबसे सरल विधि पंचोपचार की है जिसमें चंदन, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य अर्पित कर पूजा की जाती है। पर शबरीजी की पूजा में तो ये पांचों पूजन सामग्रियाँ भी पूरी नहीं हैं। शबरीजी तो प्रभु के चरणों को धो देती हैं और फिर कंद–मूल–फल लाकर उन्हें अर्पित कर देती हैं।

भगवान राम शबरीजी की बातों को सुनने के बाद उनसे कहने लगे– "शबरी !

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं।।३/३४/७

तुम मेरी नवधा भक्ति सुनो !" शबरीजी गदगद हो गईं। वे भाव–विभोर होकर सोचने लगीं– 'प्रभु कितने कृपालु हैं कि बिना मेरे पूछे ही मुझे अपनी भक्ति का उपदेश दे रहे हैं !' पर वस्तुतः प्रभु उपदेश नहीं दे रहे थे। क्योंकि अंत में प्रभु ने जो वाक्य कहा उससे स्पष्ट हो गया कि वे तो शबरीजी की स्तुति कर रहे थे। अब यदि प्रभु सीधे शबरीजी की स्तुति करते तो शबरीजी को बड़ा संकोच होता। क्या वे अपनी स्तुति ध्यान लगाकर सुन पातीं ? इसलिए प्रभु ने अपने वचन–कौशल से ऐसी

भूमिका बनाई कि शबरीजी उनकी बातें ध्यान लगाकर सुन लें !

'मानस' में भगवान राम की वाणी की विशेषता का वर्णन अनेक प्रसंगों में प्राप्त होता है। वचन–रचना में भगवान राम से कुशल कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। गोस्वामीजी उनकी वाणी के लिए कहते हैं कि–

बोले बचन बिगत सब दूषन।
मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन।।२/४०/६

प्रभु की वाणी सर्वथा दोषरहित है। वे जब बोलते हैं तो ऐसा लगता है कि वे वाणी को श्रृंगार प्रदान कर उसे और भी आकर्षक एवं सुन्दर बना देते हैं। प्रभु की बोलने की यह कला का परिचय शबरीजी के प्रसंग में तो मिलता ही है, पर 'मानस' में और भी कई ऐसे प्रसंग आते हैं। भगवान राम और परशुरामजी के बीच जनकपुर में जो संवाद होता है, इस दृष्टि से वह बड़ा अनूठा प्रसंग है।

परशुरामजी स्वयं भगवान के अवतारों में एक हैं। पर लीला के प्रारंभ में उन्हें यद्यपि यह तो लगता है कि श्रीराम मृदुभाषी हैं, पर वे उनके वाक्यों का सही अर्थ नहीं ले पाते। परशुरामजी बार–बार भगवान राम को युद्ध के लिए ललकारते हैं, पर भगवान राम बड़ी विनम्रता से उनकी इस चुनौती को अस्वीकार कर देते हैं। भगवान राम बार–बार परशुरामजी से क्षमा मांगने में भी किसी संकोच का अनुभव नहीं करते। वे बिना लड़े अपनी हार स्वीकार करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। भगवान राम परशुरामजी से यहाँ तक भी कह देते हैं कि 'महाराज ! मैं आपकी बराबरी तो कर ही नहीं सकता–

हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा।
कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।।१/२८१/५

मेरा स्थान तो आपके चरणों में ही हो सकता है।'

परशुरामजी भगवान राम के वाक्यों का अर्थ न समझ पाने के कारण आश्चर्य में पड़ जाते हैं– 'यह इतना विनम्र है, पर फिर भी मुझसे भयभीत

नहीं दिखाई देता !' भगवान राम बोलते समय मृदुता और मधुरता का परित्याग नहीं करते। एक बार तो परशुराम यहाँ तक कह देते हैं कि–

तू छल बिनय करसि कर जोरें।१/२८०/१

'तू सचमुच विनयी न होकर, विनयी होने का दिखावा कर रहा है !' पर इस संवाद के अंत में परशुरामजी भगवान राम की वाणी में 'मृदुता' के साथ जो 'गूढ़ता' थी उसे समझ लेते हैं, तो गोस्वामीजी कहते हैं कि–

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के।
उघरे पटल परसुधर मति के।।१/२८३/६

परशुरामजी को भगवान राम की वाणी के पीछे जो उद्देश्य था, वह स्पष्ट रूप से ठीक उसी तरह दिखाई देने लगता है, जैसे आवरण के हट जाने से उसके पीछे की सब वस्तुएँ दिखाई देने लगती हैं। परशुरामजी तब प्रभु की वाणी के गंभीर अर्थ को, रहस्य को जानकर आनंद से भर जाते हैं। पर प्रारंभ में तो उनकी स्थिति बिल्कुल भिन्न थी।

परशुरामजी भगवान शिव का धनुष टूटने के बाद पधारे तो वे क्रुद्ध तो थे ही, पर लक्ष्मणजी की बात सुनकर उनका क्रोध और बढ़ गया। वे सोचने लगे कि 'यह किशोरावस्था का राजकुमार बिना सोचे–समझे बोल रहा है। लगता है यह मेरे स्वभाव से परिचित नहीं है।' परशुरामजी लक्ष्मणजी से कहते हैं कि–

रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार।

'तू जानता है कि किससे बात कर रहा है ? तुम्हें सँभालकर बोलना नहीं आता ! तू कितनी असंयत भाषा बोल रहा है !

धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार।।१/२७१

क्या भगवान शंकर के धनुष और बचपन की तुम्हारी धनुही में तुम्हें कोई अंतर दिखाई नहीं देता ?'

लक्ष्मणजी ने परशुरामजी को धनुष–टूटने पर क्रोध करते देखकर कह दिया था कि–

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं।
कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं।।१/२७०/७

'महाराज ! हम लोग खेल–खेल में बहुत–सी धनुही तोड़ दिया करते थे, पर आप तो कभी क्रोध करने के लिए नहीं आए !' इसे सुनकर परशुरामजी का क्रोध–बढ़ना तो स्वाभाविक ही था।

परशुरामजी की बात सुनकर लक्ष्मणजी हँसने लगे और हँसते–हँसते एक वाक्य और कह दिया कि 'महाराज ! मैं तो यही समझता हूँ कि चाहे धनुही हो और चाहे धनुष हो, सब एक समान ही होते हैं।'

लखन कहा हँसि हमरें जाना।
सुनहु देव सब धनुष समाना।।१/२७१/१

इसे सुनकर परशुरामजी का क्रोध सौ गुना बढ़ गया। पर लक्ष्मणजी कहने लगे– "महाराज ! आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। क्योंकि भगवान राम ने इसे तोड़ने का प्रयास तक नहीं किया था। भगवान राम ने जब यह देखा कि इतने बड़े–बड़े बलशाली राजा प्रयत्न करके भी धनुष को उठा नहीं पा रहे हैं, तो उन्होंने सोचा कि 'पास जाकर हम भी जरा छू कर देख लें।' और–

छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू।
मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू।।१/२७१/३

प्रभु के हाथ लगाते ही यह धनुष न जाने कैसे टूट गया ? आप ही बताइए कि धनुष तोड़ने का दोष उन पर लगाना उचित होगा या अनुचित होगा ?

परशुरामजी और लक्ष्मणजी के बीच एक लंबा कथोपकथन चलता रहा। लक्ष्मणजी की बातें परशुरामजी को अमर्यादित और इतनी कटु लगती हैं कि उनका क्रोध बढ़ता ही चला गया। एक बार तो परशुरामजी अपना परशु लेकर उन्हें मारने तक को उद्यत हो गए। पूरी सभा में हाहाकार मच गया, पर लक्ष्मणजी निर्भयता पूर्वक उत्तर देते रहे। लक्ष्मणजी की बातों को सुनकर सभासदों को भी लगने लगा कि–

अनुचित कहि सब लोग पुकारे।१/२७५/८

'छोटा राजकुमार अनुचित बोल रहा है।' ऐसी स्थिति देखकर भगवान राम ने लक्ष्मणजी को आँखों से मौन रहने का संकेत किया और परशुरामजी से अत्यन्त विनम्रता से कहने लगे कि–

नाथ करहु बालक पर छोहू।१/२७६/१

'महाराज ! लक्ष्मण तो एक छोटा सा बालक है, अतः इस पर तो आपको छोह करना चाहिए।' परशुरामजी ने पूछा– "तुम जिसे नन्हा बालक बता रहे हो, वह तो मुझे तुम्हारी बराबरी का ही दिखाई दे रहा है। यदि तुम कहना चाहते हो कि वह तुमसे छोटा है, तो फिर बता दो कि कितना छोटा है ?' भगवान राम ने कहा–

नाथ करहु बालक पर छोहू।
सूध दूधमुख करिअ न कोहू।।१/२७६/१

"महाराज ! यह तो दुधमुँहा बालक है।" भगवान राम ने आगे कहा कि यदि यह छोटा न होता तो इसे आपके प्रभाव का क्या कुछ ज्ञान नहीं होता ? फिर क्या वह इस तरह आपसे बोलता ? भगवान राम कहते हैं कि–

जौं पै प्रभु प्रभाउ कछु जाना।
तौ कि बराबरि करत अयाना।। १/२७६/२

महाराज ! यह तो एक **'अयाना'** बालक है, बिल्कुल नासमझ है।

भगवान राम लक्ष्मणजी के लिए जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे बड़े सांकेतिक हैं। भगवान राम लक्ष्मणजी को **'दुधमुँहा'** और **'अयाना'** बालक कहते हैं, साथ ही वे यह भी कहते हैं कि यह इसीलिए आपका प्रभाव नहीं जानता। अब यदि इनका शाब्दिक और साधारण अर्थ ले लिया जाय, तो इनके पीछे जो भाव हैं, उनसे तो वंचित रह जाना पड़ेगा।

भगवान राम जब लक्ष्मणजी को 'दुधमुँहा' कहते हैं तो परशुरामजी इसका संकेत समझ नहीं पाते, इसलिए वे इसका खण्डन करते हैं। वे

कहते हैं कि–

कालकूट मुख पय मुख नाहीं। १/२७६/७

'इसके मुख में दूध नहीं, जहर भरा हुआ है। यह बच्चा तो है पर दुधमुँहा नहीं, बिषैले सांप के बच्चे की तरह है।' भगवान राम लक्ष्मणजी को किस दृष्टि से दुधमुँहा कहते हैं ?

हम जानते हैं कि बच्चा जन्म लेने के बाद प्रारंभ में केवल मां के ही दूध पर निर्भर रहता है। इसलिए उसे दुधमुँहा कहा जाता है। पर ज्यों–ज्यों वह बड़ा होता जाता है तो उसके शरीर के पोषण के लिए उसे और भी खाने–पीने की वस्तुएँ दी जाती हैं। बालक जब और अन्य वस्तुएँ ग्रहण करने लगता है तो फिर उसे दुधमुँहा नहीं कहा जाता।

भगवान राम लक्ष्मणजी को दुधमुँहा कहते हैं, इसका अर्थ यही है कि लक्ष्मणजी बाल्यावस्था से अब तक एक मात्र रामप्रेम रूपी दूध के आश्रय से पलकर बड़े हुए हैं तथा जीवनभर इसे छोड़कर उन्होंने अन्य किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं किया। इसके सिवाय लक्ष्मणजी अर्थ, धर्म, कर्म, विवेक व किसी अन्य कर्तव्यों को भी स्वीकार नहीं करते। इस रूप में वे एक छोटे दुधमुहे बालक ही हैं।

परशुरामजी को अपनी बातों का लक्ष्मणजी पर कोई प्रभाव न पड़ते देखकर बड़ा क्षोभ होता है। इसलिए वे विश्वामित्रजी की ओर देखकर कहते हैं कि 'यह बालक तुम्हारे साथ तुम्हारे आश्रम में रहा, पर लगता है तुमने इसे मेरा स्वभाव नहीं सुनाया ? देख रहे हो न, यह मेरे साथ कितनी ढिठाई से बोल रहा है ! मेरी किसी बात का इस पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ रहा है। अतः तुम इसे मेरे बल, क्रोध और प्रताप के बारे में बता दो, अन्यथा यह मेरे हाथों मारा जाएगा।'

भगवान राम जब परशुरामजी से यह कहते हैं कि 'यह आपका प्रभाव नहीं जानता' तो परशुरामजी यह सुनकर कुछ संतुष्ट हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि राम भी लक्ष्मण की इस कमी को मानता है। पर वस्तुतः यह लक्ष्मणजी की कमी नहीं, एक बहुत बड़ी विशेषता है।

यह तो कुछ इस तरह की बात है कि किसी हीरे के व्यापारी के पास कोई व्यक्ति एक काँच का टुकड़ा लेकर जाए और पूछ दे– "बताओ इसका दाम क्या है ?" तो हीरे का व्यापारी क्या कहेगा ? वह यही तो कहेगा कि 'मैं इसका मूल्य नहीं जानता।' वह ऐसा इसलिए कहेगा क्योंकि वह तो हीरे का क्रय–विक्रय करता रहा, उसने काँच न खरीदा और न ही बेचा। स्वाभाविक रूप से वह काँच का मूल्य कैसे जानेगा ? भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी यही बात कहते हैं कि–

हरिचंद जो हीरन को व्यवहारकै
काँचन कै लै परिखेइय का ?

हीरे के व्यापारी के लिए काँच का कोई मूल्य हो सकता है क्या?

लक्ष्मणजी भी परशुरामजी का प्रभाव कैसे जानेंगे ? क्योंकि वे तो ऐसे प्रभाव को जान चुके हैं, जिसे जानने के बाद किसी दूसरे का प्रभाव दिखाई ही नहीं देता। 'मानस' में लक्ष्मणजी के लिए यही कहा गया है कि–

कहि न सकत कछु अति गंभीरा।
प्रभु प्रभाउ जानत मतिधीरा।। १/५२/२

लक्ष्मणजी तो प्रभु का प्रभाव जानते हैं। इसका तात्विक अर्थ है कि लक्ष्मणजी भगवान राम के प्रभाव को छोड़कर किसी और का प्रभाव न तो जानते हैं और न ही स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में उन पर परशुरामजी का प्रभाव न पड़े, यह स्वाभाविक है।

भगवान राम लक्ष्मणजी को जब **'अयाना'** कहते हैं तो परशुरामजी को लगता है कि श्रीराम की दृष्टि में भी लक्ष्मणजी नासमझ हैं। पर ऐसी बात नहीं है। क्योंकि भगवान राम के शब्दकोश में 'अयाना' प्रशंसा का सबसे बड़ा शब्द है। भगवान राम ने 'अयाना' शब्द की व्याख्या अपने परम भक्त कागभुशुण्डिजी से की है।

भुशुण्डिजी ने जब यह कहा कि 'प्रभु ! आपसे जो मिलता है, आप उसी की प्रशंसा करने लगते हैं ! समझ में नहीं आता कि आप सबकी

प्रशंसा क्यों करते हैं ?' तो प्रभु ने कहा– ''इसमें आश्चर्य क्या है ? कार्य और समयानुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रशंसनीय हो सकता है।

एक पिता के बिपुल कुमारा।
होहिं पृथक गुन सील अचारा।।
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता।
कोउ धनवंत सूर कोउ दाता।।
कोउ सर्बग्य धर्म रत कोई।
सब पर पितहि प्रीति सम होई।। ७/८६/१-३

पिता अपने अनेक पुत्रों से समान रूप से प्रेम करता है और जो गुण जिसमें विशेष हो उस दृष्टि से उसकी श्रेष्ठता की प्रशंसा करता है।''

–''महाराज ! यह तो बुद्धि की बात हो गई ! क्योंकि समान व्यवहार का नियामक बुद्धि है। आप इस रूप में यह कह सकते हैं कि–

अखिल बिस्व यह मोर उपाया।
सब पर मोहि बराबरि दाया।। ७/८६/७

सब पर आपकी एक समान दया है। पर मैं व्यवहार की समानता के स्थान पर हृदय की बात जानना चाहता हूँ। क्योंकि हृदय समान व्यवहार का अभ्यस्त नहीं होता। अतः आप मुझे यह बता दीजिए कि इन सबमें आपको सबसे अधिक प्रिय कौन है ?''

भगवान तब हृदय की बात भुशुण्डिजी के समक्ष रखते हुए कहते हैं कि–

कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा।
सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा।।
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना।
जद्यपि सो सब भाँति *अयाना*।।७/८६/४,५

'जो पुत्र मन, वचन और कर्म से पिता की सेवा करता है, प्रेम करता है तथा किसी और धर्म–कर्म को नहीं जानता, ऐसा पुत्र 'अयाना' होने पर भी पिता को सबसे अधिक प्रिय होता है।' लक्ष्मणजी ऐसे ही 'अयाने' हैं। और यह बात 'मानस' में पग–पग पर दिखाई भी देती है।

वनयात्रा से पूर्व भगवान राम लक्ष्मणजी को अयोध्या में रहकर माता–पिता, परिवार व प्रजा की सेवा करने और धर्म–पालन का उपदेश देते हैं। पर लक्ष्मणजी उसे स्वीकार न करके स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं कि–

धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।।२/७१/७

'प्रभु ! आपका उपदेश अच्छा है, पर वह मेरे लिए नहीं है।' इसका अर्थ यह है कि 'अयाना' कहकर प्रभु यह बताना चाहते हैं कि लक्ष्मणजी उनको सबसे प्रिय हैं।

लक्ष्मणजी की वाणी और दृष्टि में जो सत्य है उसके पीछे उनके 'स्वरूप' पर भी विचार करने की आवश्यकता है। लक्ष्मणजी साक्षात् अनंत भगवान के अवतार हैं। संसार के लिए धनु और धनुही में भेद होना स्वाभाविक है पर अनंत की दृष्टि में धनु क्या और धनुही क्या ? प्रारंभ में परशुरामजी इस सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाते। परशुरामजी की कठिनाई यही है कि वे प्रारंभ में दोनों ही भाइयों के वाक्यों का ठीक अर्थ नहीं ले पाते। इसलिए वे प्रसन्न होने के स्थान पर क्रुद्ध हो जाते हैं।

इस संवाद के बीच एक ऐसा दृश्य भी आता है जब भगवान राम लक्ष्मणजी की ओर **'नयन तरेरे राम'**– नयन तरेर कर देखते हैं। यह देखकर परशुराम प्रसन्न हो जाते हैं। पर अगले ही क्षण जो दृश्य दिखाई देता है, उसे देखकर वे श्रीराम पर ही बरष पड़ते हैं।

लक्ष्मणजी पहले भगवान राम के पास खड़े थे। पर जब भगवान राम ने दृष्टि थोड़ी तिरछी करके उनकी ओर देखा, तो उन्होंने बोलना तो बंद कर दिया, पर वहीं खड़े न रहकर गुरु विश्वामित्र के पास जाकर

खड़े हो गए। परशुरामजी सोचने लगे– 'यह बालक यहाँ से वहाँ क्यों चला गया ?' उनको थोड़ा आश्चर्य भी हुआ। अभी परशुरामजी यह सोच ही रहे थे कि लक्ष्मणजी ने वहाँ से फिर बोलना प्रारंभ कर दिया। अब परशुरामजी के क्रोध की सीमा नहीं रही। वे भगवान से क्रोधपूर्वक कहने लगे– "मैं समझ रहा था कि तू आंख तरेर कर इसे डाँट रहा है और चुप रहने का संकेत कर रहा है। पर अब समझ में आया कि तू उसे चुप नहीं करा रहा था, अपितु उसे इशारे से बता रहा था कि 'मेरे पास से नहीं, वहाँ गुरुजी के पास से जाकर बोलो।' तुम दोनों मिले हुए हो और यह बालक तेरी सम्मति से ही सब बोल रहा है।

बंधु कहइ कटु संमत तोरें।
तू छल बिनय करसि कर जोरें।। १/२८०/१

यदि तुम्हें उसकी बात अनुचित लगती है, तो उसे बोलने से रोकता क्यों नहीं ?"

भगवान राम ने लक्ष्मणजी की ओर तिरछी दृष्टि से देखा, पर उसके बाद लक्ष्मणजी जब पुनः बोलने लगे तो उन्होंने उन्हें रोका क्यों नहीं? भगवान राम की दृष्टि कुछ अलग है। वे इसे मर्यादा की बात मानते हैं। भगवान राम का अभिप्राय है कि 'जब लक्ष्मण गुरु विश्वमित्रजी के पास खड़े हैं तो उनके बोलने में उचित–अनुचित के निर्णय करने का अधिकार गुरुदेव को है। वहाँ मेरा कोई अधिकार नहीं है। यदि वे अनुचित मानते हैं तो रोकें।' वस्तुतः लक्ष्मणजी जो कुछ भी बोलते हैं, उसके पीछे उनका एक उद्देश्य है।

लक्ष्मणजी भगवान राम की कीर्ति–पताका के उत्तोलन के लिए आधार–दण्ड हैं। वे भगवान राम के प्रभाव को प्रगट करने वाले आचार्य हैं। परशुरामजी की कठिनाई यह है कि वे न तो भगवान राम को ही समझ पा रहे हैं और न ही उनकी भाषा–शैली को। इसलिए लक्ष्मणजी चाहते हैं कि प्रभु का प्रभाव प्रगट हो कि जिससे परशुरामजी का भ्रम दूर हो सके। भगवान राम अपनी शैली में उन्हें अपने स्वरूप का परिचय देने का प्रयास करते हैं, पर परशुराम उसे ग्रहण नहीं कर पाते।

भगवान राम उनसे जब यह कहते हैं कि–

छुअतहि टूट पिनाक पुराना।
मैं केहि हेतु करौं अभिमाना।।१/२८२/८

'महाराज ! मैंने धनुष नहीं तोड़ा है। वह तो छूनेमात्र से ही टूट गया।' वस्तुतः प्रभु इसके माध्यम से अपने 'अकर्तृत्व' को ही बताना चाहते हैं। पर परशुराम का ध्यान प्रभु के स्वरूप की ओर जाता ही नहीं। इसी सत्य को प्रगट करने के लिए लक्ष्मणजी को बोलना पड़ता है।

परशुराम जी चाहते हैं कि सब उनसे डरें। पर लक्ष्मणजी जो उत्तर देते हैं उससे वे समझ जाते हैं कि लक्ष्मणजी उनसे भयभीत नहीं हैं। पर भगवान राम विनम्रता से उत्तर देते हैं, इसलिए परशुरामजी उनसे पूछ देते हैं– "बताओ ! तुम मुझसे डरते हो या नहीं डरते ?" भगवान राम इसका बड़ा सुन्दर उत्तर देते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में होगा या फिर 'ना' में होगा। पर भगवान राम कहते हैं कि यद्यपि सत्य तो यही है कि–

कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।१/२८३/४

'मैं काल से भी नहीं डरता पर आपसे डरता हूँ।'–"तो संभवतः तुमने मेरे पौरुष–पराक्रम को जान लिया होगा, तुम्हें मेरे इतिहास का पता चल गया होगा, इसलिए तुम मुझसे डर रहे हो।"

भगवान राम कहते हैं कि 'महाराज ! इसका दूसरा कारण है–

बिप्रबंस कै असि प्रभुताई।१/२८३/५

आप ब्राह्मण हैं इसलिए आपसे डर रहा हूँ।'

अब यह प्रशंसा है या निंदा ? परशुरामजी यह नहीं चाहते कि कोई ब्राह्मण मानकर उनसे डरे। क्योंकि ब्राह्मण तो अनेक हैं। पर भगवान राम जब उनसे यह कहते हैं कि–

बिप्रबंस कै असि प्रभुताई।
अभय होई जो तुम्हहि डेराई।।१/२८३/५

'मैं आपसे डरता हूँ इसलिए काल से नहीं डरता।' तो परशुराम सोचने लगते हैं, और तब–

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के।
उघरे पटल परसुधर मति के।।१/२८३/६

इस 'मृदु–गूढ़' वाणी को सुनकर उनका भ्रम दूर हो जाता है। वे भगवान राम के प्रभाव को जान लेते हैं तथा आनंद से भर जाते हैं। गोस्वामीजी यही लिखते हैं कि–

जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन हृदयँ न प्रेमु अमात।।१/२८४

अब परशुरामजी का एक परिवर्तित रूप सामने आता है। वे भगवान राम के प्रति ही नहीं, लक्ष्मणजी के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रगट करते हैं। वे मानते हैं कि 'यदि लक्ष्मणजी ने अपनी आड़ी–टेढ़ी भाषा से उन्हें प्रेरित न किया होता, तो संभवतः मैं यह सोचकर कि चलो ! इस बालक राम को क्षमा कर देता हूँ', यहाँ से चला गया होता। और तब मैं एक बहुत बड़े सत्य और आनंद से वंचित रह जाता।' वे अपने पूर्वप्रयुक्त शब्दों के लिए क्षमा मांगते हुए कहते हैं कि–

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता।
छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।।१/२८४/६

'अन्जाने में मैं बहुत सी अनुचित बातें कह गया, आप दोनों भाई क्षमामंदिर हैं, अतः मुझे क्षमा कर दें !'

भगवान राम की वाणी की जिन दो मुख्य विशेषताओं का वर्णन 'मानस' में आता है, वे हैं उनकी 'मृदुता' और 'गूढ़ता'। 'गूढ़' कथन के समय श्रोता को सावधान करना भी वे नहीं भूलते। शबरीजी को नवधाभक्ति का उपदेश देने से पूर्व वे यही कहते हैं कि–

सावधान सुनु धरु मन माहीं।३/३४/७

'शबरी ! तुम ध्यान लगाकर सुनो।'

अरण्यकाण्ड में ही लक्ष्मणजी के प्रश्नों का उत्तर देते समय वे उनसे तो और भी अधिक एकाग्रता से सुनने के लिए कहते हैं। प्रभु कहते हैं–

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।
सुनहु तात मति मन चित लाई।।३/१४/१

"लक्ष्मण ! तुम मन, बुद्धि और चित्त लगाकर सुनो।" इस तरह श्रोता और वक्ता दोनों की ही समग्रता का बड़ा महत्व है।

वक्ता और श्रोता दोनों के ही दो रूप हैं। एक वक्ता ऐसे होते हैं जो सामान्यतया व्यवहार की भूमि में रहते हैं और कथा सुनाते समय वे इससे ऊपर उठकर, उस भावभूमि में जाकर रामचरित्र का वर्णन करते हैं। प्रवचन से पूर्व की जाने वाली प्रार्थना का उद्देश्य यही है। वक्ता जो अब तक संसार की सारी बातें कर रहा था, निंदा–स्तुति कर रहा था, उससे ऊपर उठता है और एक दूसरे स्तर पर चला जाता है। पर ऐसे भी वक्ता होते हैं जिन्हें नीचे से ऊपर नहीं जाना पड़ता, अपितु कथा सुनाने के लिए ऊपर से नीचे उतरना पड़ता है कि जिससे श्रोता उन्हें ग्रहण कर सकें।

इसी प्रकार एक श्रोता वे होते हैं जो कथा में तो बैठ जाते हैं पर उनका ध्यान कहीं और होता है। वे सोचते रहते हैं कि कथा में न जाने कितना समय और लगेगा ? दूसरे श्रोता ऐसे भी होते हैं जिन्हें श्रवण करने के लिए ऊपर से नीचे उतरना पड़ता है।

भगवान राम शबरीजी को नवधा भक्ति सुनाते हैं पर नवधा भक्ति का एक और रूप है जिसमें–

श्रवणं कीर्तनं विष्णोस्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्य सख्य आत्मनिवेदम्।।

'श्रवण' का उल्लेख सबसे पहले आता है। 'मानस' में भगवान राम लक्ष्मणजी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए उन्हें जिस नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं उसमें भी यही क्रम है।

श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं।३/१५/८

इसका अर्थ है कि यदि कथा कहना कठिन है तो सुनना उससे कम कठिन नहीं है। इसलिए वक्ता में जितने गुण आवश्यक हैं उससे श्रोता में अधिक गुण होने चाहिए। इस संदर्भ में स्वामी अखण्डानंदजी सरस्वती से जुड़ा एक प्रसंग याद आता है।

स्वामीजी एक सत्संग–समारोह में जबलपुर गए हुए थे। मैं भी उनके साथ था। कार्यक्रम के समापन के दिन बिदाई–समारोह में लोग अपने–अपने भाव व्यक्त कर रहे थे। गांव का भी एक व्यक्ति बोलने के लिए खड़ा हो गया और गांव की भाषा में उसने एक अटपटी–सी लगने वाली बात कह दी। उसने कहा– "स्वामीजी ! आपके जाने के बाद हम लोगों की वही दशा हो जाएगी, जो बैल के मरने के बाद 'किलनी' की हो जाती है।"

गांव की भाषा में 'किलनी' शब्द एक प्रकार के ऐसे परजीवी कीड़े के लिए प्रयुक्त होता है जो गांव के बैल आदि पशुओं के शरीर से साथ चिपका रहता है और इस प्रकार उनके आश्रय से पलता–बढ़ता है। अतः बैल की मृत्यु हो जाने की स्थिति में उसके सामने भी मृत्यु–संकट के कारण, अत्यन्त दुखदाई स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उस ग्रामीण की बात सुनकर तो यही लगता है कि "वह कितना बड़ा मूर्ख है ? स्वामीजी को बैल बता रहा है और उनके मरने की बात कह रहा है !"

गोस्वामीजी इसीलिए बार–बार श्रोता को सावधान रहने के लिए कहते हैं। वक्ता चाहे बोलने में असावधान हो, पर श्रेष्ठ श्रोता तो वही है जो वक्ता के अटपटे कथन से भी उसमें छिपे सही भाव को ग्रहण कर सके। 'मानस' में गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान राम ऐसी भाषा बोलने वालों पर भी प्रसन्न हो जाते हैं। क्योंकि वे शब्दों के अर्थ के स्थान पर हृदय की बात समझते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं कि–

कहत नसाइ होइ हियँ नीकी।
रीझत राम जानि जन जी की।१/२८/४

वस्तुतः गांव के उस व्यक्ति का हृदय तो स्वामीजी के प्रति प्रेम से भरा हुआ था। और उनके वियोग से जो पीड़ा हो रही थी उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसकी दृष्टि में यही दृष्टान्त आया। क्योंकि गांव के जीवन में ऐसे दृश्य उसके सामने आते ही रहते होंगे। उसकी बात सुनकर स्वामीजी बहुत देर तक हँसते रहे। गांव वालों में एक कहावत प्रचलित है जिसमें कहा गया है कि–

कहता चाही बावरो सुनता चाहि सरेख।

'कहने वाला भले ही बावरा हो, सुनने वाले को सावधानी से सुनना चाहिए।' 'मानस' में 'श्रोता में कौन–कौन से गुण होने चाहिए ? इसे बताते हुए कहा गया है कि–

श्रोता सुमति सुसील सुचि कथा रसिक हरि दास।
पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास।।
७/६६(ख)

श्रोता में ये चार गुण आवश्यक हैं।

सचमुच, सुनना न तो सबके लिए सरल है और न लोग सुनना ही जानते हैं। इसीलिए भगवान शंकर ने कठोर नियम बना दिया है। वे कहते हैं कि उन लोगों को कथा नहीं सुनानी चाहिए जो हठी हों, दुष्टवृत्ति के हों और मन लगाकर न सुनते हों।

यह न कहिअ सठही हठसीलहि।
जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि।।७/१२७/३

भगवान शंकर के यहाँ यह संभव है, क्योंकि वहाँ तो मात्र एक ही श्रोता हैं– पार्वतीजी। भगवान शंकर के गणों का भी वहाँ कथा में प्रवेश नहीं है। यहाँ तक कि वहाँ भगवान शंकर के लिए आसन बिछाने वाला भी कोई नहीं है। भगवान शंकर–

निज कर डासि नागरिपु छाला।
बैठे सहजहिं संभु कृपाला।।१/१०५/५

स्वयं अपने हाथ से वाघंबर बिछाकर वट वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं। आज तो वक्ता के लिए कितना सारा प्रबंध करना पड़ता है।

एकान्त में भगवान शंकर को बैठे देखकर पार्वतीजी सोचती हैं कि यह तो बहुत अच्छा अवसर है।

पारबती भल अवसरु जानी।
गई संभु पहिं मातु भवानी।।१/१०६/२

वे भगवान शंकर के पास जाती हैं और उनसे कथा सुनाने की प्रार्थना करती हैं। इस प्रकार कैलाश शिखर पर जो रामकथा होती है उसमें एक वक्ता और एक ही श्रोता, बस दो ही पात्र दिखाई देते हैं।

आज तो वक्ता बेचैन रहता है कि भीड़ बढ़े। आज भीड़ ही वक्ता का मापदण्ड हो गया है। जितनी बड़ी भीड़ होती है, वक्ता भी उतना ही बड़ा माना जाता है। इस दृष्टि से शंकरजी सबसे छोटे वक्ता हैं क्योंकि उनका तो बस एक ही श्रोता है।

'मानस' में रामकथा के जो स्थल बताए गए हैं उनमें कैलाश शिखर सर्वोच्च स्थिति का प्रतीक है। भगवान शंकर भगवान राम से अभिन्न हैं, अतः इस नाते वे अद्वैत की स्थिति में रहते हैं। अब कथा कैसे होगी? जब सुनने वाला हो ! कितने सुनने वाले हों तो कथा होगी ? वक्ता को यदि लगे कि सुनने वालों की संख्या अधिक होनी चाहिए, तो इसका अर्थ है कि उसे कथा कहने में आनंद नहीं आता, लोगों की भीड़ को देखने में आनंद आता है। पर भगवान शंकर श्रोताओं की संख्या को महत्व नहीं देते। वे चाहते हैं कि श्रोता इस योग्य हो जो यहाँ बैठकर कथा सुन सके।

'श्रोता कहाँ बैठकर कथा सुनता है,' यह बड़ा महत्वपूर्ण है। बहुत से श्रोता शरीर की दृष्टि से कथा–स्थल पर बैठे होते हैं पर उनका मन कहीं और होता है। कई श्रोता तो (भौतिक रूप से) बैठने के स्थान को ही बड़ा महत्व देते हैं। यदि उन्हें ऐसा लगता है कि 'बैठने के लिए जो उपयुक्त स्थान उन्हें मिलना चाहिए था, वह उन्हें नहीं दिया गया', तो वे दूसरे दिन कथा–सुनने के लिए नहीं आना चाहते।

गोस्वामीजी से जब किसी ने एक महात्मा का नाम लेकर कहा– "महाराज ! उनके यहाँ तो बड़ी भीड़ दिखाई देती है, पर यहाँ कुछ कम लोग आते हैं !" तो गोस्वामीजी ने कहा– "तब तो उन महात्मा (वक्ता) को सावधान हो जाना चाहिए !"

–"क्यों महाराज ?"

गोस्वामीजी ने कहा– "भाई ! भीड़ तो 'भेड़ों की धँसनि' की तरह होती है।

तुलसी भेड़ी की धँसनि जड़ जनता सनमान।

अर्थात्, जैसे एक भेड़ जिधर जाती है दूसरी भेड़ भी उधर ही चली जाती है, भीड़ की भी वही स्थिति है। गोस्वामीजी ऐसी 'भेड़ चाल' चलने वाली जनता के लिए एक कठोर शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि बड़ी संख्या में होने पर भी इनके द्वारा दिए गए सम्मान को बहुत अधिक महत्व नहीं देना चाहिए।

तुलसी भेड़ी की धँसनि जड़ जनता सनमान।

क्योंकि 'यह कब प्रशंसा करेगी या कब निंदा कर देगी', यह नहीं कहा जा सकता। इसे कब, क्या अच्छा लग जाए और क्या बुरा लग जाए' कोई नहीं जानता। इसीलिए भीड़ मिल जाने पर प्रसन्न होने से अधिक आवश्यक है सावधान रहना, क्योंकि–

तुलसी भेड़ी की धँसनि जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो खोवत मूढ़ अपान।।
(दोहावली-४६५)

जड़ जनता कब पूजा करने लगे और कब पद–प्रहार कर दे, इसका भरोसा नहीं। अतः व्यर्थ का अभिमान न पालना ही श्रेष्ठ है।

भगवान शंकर अद्वैत की स्थिति में हैं, जहाँ न तो सुनाने की आकांक्षा है और न ही सम्मान या प्रशंसा पाने की। इसलिए भगवान शंकर भगवान राम के चरित्र ग्रन्थ की रचना करने के बाद भी किसी को नहीं सुनाते।

'रामायण' के रचयिता को लेकर कई लोगों के मन में एक प्रश्न आता है। यह सब जानते हैं कि महर्षि बाल्मीकि ने, जो आदि कवि के रूप में जाने जाते हैं, रामायण की रचना की है। गोस्वामीजी भगवान शंकर के विषय में यही कहते हैं कि–

रचि महेस निज मानस राखा।

'भगवान शंकर रामचरित्र (रामायण) के रचयिता हैं।'

मुझसे किसी ने पूछा– "रामायण की रचना किसने पहले की ? महर्षि बाल्मीकि ने की या भगवान शंकर ने की ? यदि बाल्मीकि आदि कवि हैं तो भगवान शंकर को रचनाकर के रूप में कौन–सी उपाधि दी जाय ?" मैंने कहा– "बाल्मीकि यदि आदि कवि हैं तो भगवान शंकर अनादि कवि हैं।" 'आदि कवि' कहने का अर्थ है कि 'जो काल की परिधि में आता है', पर जो कालातीत है, उसे तो 'अनादिकवि' ही कहा जाएगा।

भगवान शंकर ने रामायण की रचना की और अपने 'मानस' में ही रख लिया। बाहर किसी को न सुनाकर स्वयं ही आनंद–रस में डूबे रहते। वे ऐसे रचनाकर हैं जिन्हें किसी को सुनाने की कोई व्यग्रता नहीं है। ऐसे वक्ता का अधिकारी श्रोता तो कोई एकाध ही हो सकता है। उनकी एकमात्र श्रोता पार्वतीजी को भी यह पात्रता प्राप्त करने में बड़ा लंबा समय लगा और बड़े कष्ट उठाने पड़े। इस गाथा से सब परिचित ही हैं।

पार्वतीजी पूर्वजन्म में सती थीं। वे भगवान शंकर के साथ अगस्त्यजी के आश्रम में गईं, पर उन्होंने कथा–श्रवण नहीं किया। इसीलिए वापस लौटते समय दण्डकारण्य में प्रभु की लीला को देखकर उन्हें भ्रम हो गया। भगवान शंकर ने इसके बाद उन्हें रामकथा कभी नहीं सुनाई। मार्ग में भी सती को उन्होंने इतिहास की ही कथाएँ सुनाई–

बरनत पंथ बिबिध इतिहासा।
बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा।।१/५७/६

भगवान राम की कथा सुनाते तो कितना अच्छा होता ! पर भगवान शंकर उनमें रामकथा सुनने की पात्रता का अभाव देखते हैं इसलिए उन्हें रामकथा नहीं सुनाते। भगवान शंकर की कसौटी पर वे खरी नहीं उतरतीं। सतीजी रामकथा सुनना नहीं जानतीं।

सतीजी का पार्वतीजी के रूप में पुनर्जन्म होता है। और भगवान शंकर के साथ उनका विवाह होता है। पर कैलाश शिखर पर पहुँचने के बाद भी उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ती है। फिर एक दिन अकेले में वे भगवान शंकर के चरणों में प्रणाम कर उनसे कथा सुनाने की प्रार्थना करती हैं। पर उनके मुँह से एक ऐसा शब्द निकल जाता है जिसे सुनकर भगवान शंकर कहते हैं–

अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी।१/१४०/५

"मैं तो समझता था कि तुम नया शरीर पाकर पूरी तरह परिवर्तित हो गई हो, पर लगता है अभी भी पूर्वजन्म की कुछ छाया बनी हुई है।"

पार्वतीजी उनसे निवेदन करती हैं कि 'महाराज ! एसी बात नहीं है–

तब कर अस बिमोह अब नाहीं।
रामकथा पर रुचि मन माहीं।।१/१०८/७

अब तो मैं हृदय से कथा सुनना चाहती हूँ।' भगवान शंकर मानो अंत तक यह देखते हैं कि वे कथा–श्रवण के योग्य हैं या नहीं ? और फिर वे प्रसन्न होकर यह कहते हुए उन्हें भगवान राम की कथा सुनाते हैं कि–

रामकृपा तें पारबति सपनेहुँ तव मन माहिं।
सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं।।१/११२

इस दृष्टि से कैलाश शिखर के श्रोता और वक्ता दोनों ही अप्रतिम हैं।

रामकथा का दूसरा स्थल है सुमेरु पर्वत, जहाँ चार शिखर हैं। यहाँ भगवान राम के नाम, रूप, लीला और धाम का निरूपण और इनकी

साधना का क्रम निरंतर चलता रहता है। यहाँ भुशुण्डिजी वक्ता हैं और श्रोता के रूप में बहुत से पक्षी उनकी कथा का आनंद लेते हैं। पर पक्षियों की इस भीड़ में एक ऐसा पक्षी भी है जो खोजने पर भी कहीं दिखाई नहीं देता। यद्यपि प्रतीकात्मक रूप से यह पक्षी धनुष–यज्ञ में तो दिखाई देता है, पर यहाँ नहीं दिखता। गोस्वामीजी बताते हैं कि यह पक्षी है उल्लू, जो रामकथा में नहीं आ पाता।

धनुषयज्ञ में आने वाले राजाओं की वृत्ति की दृष्टि से उनका वर्गीकरण करते हुए गोस्वामीजी यह बताते हुए कि इनमें कोई कोयल है, कोई गीध है तो कोई चातक है, बहुत से पक्षियों का नाम लेते हैं। फिर वे उनमें से कुछ उन राजाओं के लिए, जो भगवान राम के प्रभाव को देख नहीं पाते, कहते हैं कि यहाँ तो उलूक भी आ गए हैं !

कपटी भूप उलूक लुकाने।१/२५४/२

पर सुमेरु शैल पर कथा–श्रवण करने वालों में तो एक भी उल्लू नहीं दिखाई देता, अपितु यहाँ तो–

सुनहिं सकल मति बिमल मराला।७/५६/६

हंस ही हंस दिखाई देते हैं। इस प्रकार यहाँ प्रभु के विमल भक्ति की गाथा भुशुण्डिजी सुनाते हैं और पवित्र अंतःकरण से सब हंसगण श्रवण करते हैं। इस प्रकार ये दोनों कथाएँ ऊँचे पर्वत शिखरों पर बैठकर कही–सुनी जाती हैं। पर यही कथा प्रयाग में भी महर्षि भरद्वाज के आश्रम में उस समय सुलभ हो जाती है, जब कुंभ के पर्व में महर्षि याज्ञवल्क्य वहाँ पधारते हैं।

आज भी कुंभपर्व पर तीर्थराज प्रयाग में बड़ी संख्या में साधु–महात्मा व श्रद्धालु एकत्रित होते हैं। बड़ी भीड़ होती है। जहाँ–तहाँ वक्ताओं के अनेक पंडाल लगे रहते हैं और श्रोतागण बैठकर कथा सुनते रहते हैं। गोस्वामीजी उस समय के कुंभ मेले का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

माघ मकरगत रबि जब होई।
तीरथपतिहिं आव सब कोई।।१/४३/३

मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।
करहिं परसपर हरि गुन गाहा।।१/४३/८
प्रति संबत अति होइ अनंदा।
मकर मज्जि गवनहिं मुनिबृंदा।।१/४४/२
एक बार भरि मकर नहाए।१/४४/३

एक बार तीर्थराज प्रयाग में माघ–मेले में सारे मुनिगण एकत्र हुए। और जब मकर–स्नान के बाद–

सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए।१/४४/३

सब मुनिगण अपने–अपने आश्रमों में लौट गए, तो याज्ञवल्क्यजी ने भरद्वाजजी से कहा– "हम आपके आश्रम में बड़े आनंद से रहे, अब विदा दें।" महर्षि भरद्वाज ने कहा– "महाराज ! हम आपको अभी नहीं जाने देंगे।" और–

भरद्वाज राखे पद टेकी।१/४४/४

भरद्वाजजी ने बड़े विनय के साथ उन्हें रोक लिया। उनके चरण धोए, आसन पर बैठाया, उनकी पूजा की और फिर अपना संशय उनके सामने रखते हुए उनसे प्रश्न कर दिया। याज्ञवल्क्यजी तो महान विवेकवान ऋषि थे। वे भरद्वाजजी का आशय समझ गए और तब उन्होंने उन्हें भगवान राम की कथा सुनाई। पर सुनाने से पहले उन्होंने भी भरद्वाज को सावधान करते हुए कहा–

तात सुनहु सादर मनु लाई।
कहउँ राम कै कथा सुहाई।।१/४६/५

"आप भगवान राम की इस कथा को मन लगाकर सुनिए।"

इस प्रसंग में दो बातें बड़े महत्व की हैं। पहली तो यह कि महर्षि भरद्वाज के आश्रम में रामकथा कब प्रारंभ हुई ? जब–

सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए।१/४४/३

सब वापस चले गए, सारी भीड़ समाप्त हो गई। और दूसरी बात

कि कथा कैसे सुननी चाहिए ? सचमुच यह कार्य बहुत कठिन है। भरद्वाज– जैसे महर्षि को कथा के वक्ता याज्ञवल्क्यजी स्मरण दिलाना नहीं भूलते कि इस कथा को सम्मानपूर्वक मन लगाकर सुनना आवश्यक है। शंकरजी तो मन लगाकर न सुनने वाले को कथा सुनाने पर ही रोक लगा देते हैं।

गोस्वामीजी से किसी ने पूछा– "आप भी तो रामकथा का गायन करते हैं। बताइए आपने किसको कथा सुनाई ?" गोस्वामीजी ने कहा– "भाई ! मेरा भी बस एक ही श्रोता है !"

–"महाराज ! लगता है, आप भी शंकरजी के समान ही श्रोता चुनने में बड़ी कठिन कसौटी का प्रयोग करते हैं। आपको भी एक ही श्रोता मिल पाया। तब तो निश्चय ही आपका श्रोता भी महान होगा !"

–"मेरा श्रोता है मेरा मन !" गोस्वामीजी ने बताया।

–"तब तो आपका मन बहुत अच्छा होगा ?"

गोस्वामीजी ने कहा– "बिल्कुल नहीं, मेरा यह मन तो बड़ा दुष्ट है।" गोस्वामीजी इसी विशेषण से अपने मन को संबोधित करते हुए कहते हैं कि–

सुनहि संतत सठ मना।५/५६/छंद

'हे दुष्ट मन, तू सुन !'

गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि 'दूसरे को वह सुनाए जो अपने आपको अधिकारी मानता हो। पर कथा सुनाने की योग्यता तो मुझमें है ही नहीं, इसलिए मैं अपने उस मन को ही कथा सुना रहा हूँ, जो बड़ा दुष्ट है।' गोस्वामीजी शंकरजी से अपनी इस धृष्टता के लिए क्षमा याचना भी करते हैं, और कहते हैं कि 'महाराज ! आपसे प्रार्थना है कि आप बुरा मत मानिएगा ! यहाँ सबको सुनने दीजिएगा। आपकी कसौटी पर खरा उतरने वाले श्रोता की शर्त न लगाना ही ठीक रहेगा।' वक्ता और श्रोता का एक रूप यह भी है।

वक्ता श्रोता को सावधान तो करता ही है। 'मानस' में अनेक अवसरों

पर यह बात देखी जा सकती है। भगवान राम तो शबरीजी को, लक्ष्मणजी को सावधान करते ही हैं, पर तत्वज्ञ महाराज जनक भी जब सुनयनाजी को श्री भरतजी का चरित्र सुनाने लगे तो यही कहते हैं कि–

सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि।२/२८७/३

'सावधानी से सुनो।'

इस तरह यदि यह कहा जाय कि 'वक्ता की तुलना में श्रोतासे जो अपेक्षाएँ की जाती हैं, वे कहीं अधिक और कठिन हैं' तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

।।बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।।

।। श्रीरामः शरणं मम।।

६

भगवान राम शबरीजी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं पर अंत में यह भी कह देते हैं कि यह उपदेश आपके लिए नहीं है, क्योंकि आप तो इस नवधा भक्ति को अपने जीवन में साकार कर चुकी हैं। इसका अर्थ तो यही है कि प्रभु साधकों के कल्याण के लिए ही यह उपदेश दे रहे थे।

एक सज्जन ने मुझसे पूछा– "आप यह नवधा भक्ति का प्रसंग कितने दिनों में समाप्त कर देंगे ?" मैंने कहा– "मैं नहीं जानता !" एक और सज्जन ने उलाहना दी– "आप किसी प्रसंग को समाप्त ही नहीं करते, अधूरा छोड़ देते हैं।" इन उलाहना देने वालों में मेरे सबसे निकटस्थ श्री मैथिलीशरणजी भी एक हैं। वे कहा करते हैं कि 'यदि आप नौ दिन में नवधा भक्ति का निरूपण कर दें, तो एक पुस्तक तैयार हो जाएगी।' यह उनकी दृष्टि है और लोक–कल्याण के लिए उपयोगी भी है। पर यदि आप गोस्वामीजी की शैली को समझ लें तो मेरे द्वारा समाप्त न कर पाने की बात भी स्पष्ट हो जाएगी।

इसके पीछे सूत्र यही है कि रामचरितमानस में भक्ति की जो अद्भुत रसमयी व्याख्या है, वह गणित से जुड़ी हुई बिल्कुल नहीं है। इसे बहुत से प्रसंगों में देखा जा सकता है।

श्री भरत प्रभु को मनाने और अयोध्या लौटाने के लिए चित्रकूट जा रहे हैं। पर यह यात्रा वे रथ या घोड़े पर बैठकर नहीं, पैदल ही पूरी करते हैं। अब कोई गणितज्ञ इसे अच्छा नहीं मानेगा। वह तो चित्रकूट की दूरी का अंक गिनते हुए यही कहेगा कि अगर वे यह यात्रा रथ या घोड़े से करते तो बहुत जल्दी वहाँ तक पहुँच जाते। पर यह देखकर आश्चर्य होता है कि ऐसी कोई जल्दी भरतजी को नहीं है। क्योंकि वे न केवल पैदल यात्रा करते हैं, अपितु इस यात्रा में वे कभी आगे जाते

हुए और कभी पीछे लौटते हुए भी दिखाई देते हैं। वे कभी तेज गति से चलने लगते हैं तो कभी रुक भी जाते हैं। गोस्वामीजी अन्यत्र भी जब भक्तों की यात्रा का वर्णन करते हैं, तो वहाँ पर भी कभी आगे चलने और और कभी पीछे लौटने का दृश्य दिखाई देता है। हमारी कथा में भी यदि कुछ आगे–पीछे हो जाए या गति धीमी हो जाए तो इसका इसी रूप में आनंद लेना चाहिए।

भरतजी कभी आगे चलते हैं, कभी रुक जाते हैं तथा कभी पीछे भी चले जाते हैं। गोस्वामीजी बताते हैं कि उस समय इसके पीछे भरतजी की मनः स्थिति क्या है। 'उनकी यह यात्रा कितने कम समय में पूरी हो सकती थी ?' यह महत्व का प्रश्न नहीं है, अपितु गोस्वामीजी उनके जिस मनोभाव का परिचय देते हैं, वही साधक के लिए सबसे महत्व की बात है।

यात्रा करते समय भरतजी को जब यह स्मरण हो आता है कि 'मैं कैकई–पुत्र हूँ, जिसके कारण श्रीरामचन्द्र, जनकनंदिनी श्रीसीता तथा लक्ष्मणजी को वन–वन भटकना पड़ रहा है', तो वे सोचने लगते हैं कि 'क्या मैं इस योग्य हूँ कि वहाँ जाऊँ ?' कभी–कभी उन्हें लगता है कि 'प्रभु मेरे आने की सूचना पाकर, मेरा नाम सुनते ही अन्यत्र न चले जाएँ!' ऐसा सोचकर वे वापस लौटने लगते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं–

समुझि मातु करतब सकुचाहीं।
करत कुतरक कोटि मन माहीं।
राम लखनु सिय सुनि मम नाऊँ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ।।२/२३२/७,८

पर जब वे लौटने लगते हैं तो उन्हें प्रभु के स्वभाव का ध्यान आता है। उन्हें लगता है कि–

मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर।।२/२३३

यद्यपि मेरा जन्म ऐसी माँ से हुआ जिसने इतना बड़ा अन्याय और

अनर्थ किया, लेकिन हमारे प्रभु का स्वभाव ही यही है कि वे दूसरे के अपराध को नहीं देखते। यह सोचकर वे फिर प्रभु की दिशा में लौटने लगते हैं। वस्तुतः यह साधारण यात्रा नहीं, भक्त की यात्रा है। गोस्वामीजी इसका चित्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि–

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी।
चलति भगति बल धीरज धोरी।।
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ।
तब पथ परत उताइल पाऊ।।
भरत दसा तेहि अवसर कैसी।
जल प्रबाहँ जल अलि गति जैसी।।२/२३३/५-७

इसका अभिप्राय है कि **सांसारिक यात्रा में व्यक्ति गंतव्य तक शीघ्रता से पहुँचना चाहता है। पर भक्त की यात्रा एक ऐसे साधक की यात्रा है जो अंतर्जगत में भगवान के पास पहुँचने के लिए व्यग्र** है। कह सकते हैं कि भक्त तो निरंतर भगवान के पास ही रहता है। उसे कहाँ जाना है ? इसके द्वारा 'एक भावुक भक्त के हृदय में कैसी वृत्ति होनी चाहिए', इसकी ओर संकेत किया गया है।

अरण्यकाण्ड में महर्षि अगस्त्य के शिष्य सुतीक्ष्णजी का भी एक ऐसा ही चित्र गोस्वामीजी प्रस्तुत करते हैं। सुतीक्ष्णजी भगवान राम के महान भक्त हैं। उन्होंने जब यह सुना कि रामभद्र आ रहे हैं, तो वे दौड़ पड़े। गोस्वामीजी कहते हैं–

प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा।
करत मनोरथ आतुर धावा।।३/६/३

स्वागत के लिए दौड़ पड़ना स्वाभाविक प्रतीत होता है। पर दौड़ते हुए सुतीक्ष्णजी को लगता है कि 'जिन प्रभु को मैं प्रसन्न करने के लिए जा रहा हूँ, क्या उनको प्रसन्न कर पाने की कोई योग्यता मुझमें है ?' तब उन्हें लगता है कि मेरे जीवन में न तो ज्ञान है, न भक्ति है और न ही वैराग्य है। उनकी यात्रा तो श्री भरतजी की यात्रा से भी कठिन

दिखाई देती है। वे जितनी तेजी से आगे दौड़ रहे थे, उतनी ही गति से पीछे लौटने लगते हैं।

कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।।३/६/१२

सुतीक्ष्णजी पहुँचेंगे या नहीं पहुँचेंगे ? कितनी देर में पहुँचेंगे ? गोस्वामीजी कहते हैं कि–

दिसि अरु बिदिस पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।।३/६/११

अभी आगे दौड रहे थे, फिर पीछे लौट रहे थे, पर अब तो नाचने लगे। जिस यात्रा की इतनी व्यग्रता थी उसमें एक ऐसी स्थिति आ गई कि वे सोचने लगे कि 'मैं कहाँ जा रहा हूँ ?' और फिर अपनी सुधबुध भूल, यात्रा करना छोड़कर एक पेड़ के नीचे जाकर बैठ गए। इस प्रकार वे जिस अंतर्हृदय की वृत्ति से संचालित हो रहे हैं, यही भक्ति की यात्रा है। और इस यात्रा का परिणाम क्या निकला ?

भगवान ने जब सुना कि सुतीक्ष्णजी उनका स्वागत करने के लिए आ रहे हैं तो वे उनकी बाट देखने लगे। पर बहुत देर हो जाने पर भी जब वे नहीं दिखे, तो प्रभु सोचने लगे– 'अभी तक वे पहुँचे क्यों नहीं?' और तब उलटी बात हो गई। कहाँ सुतीक्ष्णजी प्रभु का स्वागत करने जा रहे थे, पर अब प्रभु ही उन्हें खोजने के लिए निकल पड़े। मानो प्रभु ने बता दिया कि 'यदि तुममें गति है, तो तुम मेरे पास पहुँच सकते हो। पर यदि तुममें गति नहीं है, तो फिर मुझे ही तुम्हारे पास आना पड़ेगा।' यही भक्ति के पथ की विलक्षणता है।

प्रभु स्वयं उनके पास पहुँच गए। और जब–

कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।।३/६/१२

उन्हें नृत्य करते देखा तो प्रभु को इतना आनंद आया कि वे एक वृक्ष की आड़ में छिपकर उनके नृत्य का आनंद लेने लगे। फिर इसके

बाद प्रभु ने देखा कि सुतीक्ष्णजी पेड़ के नीचे नेत्र मूँदकर बैठ गए। प्रभु ने सोचा कि अब इनसे मिलना भी तो चाहिए। वे उनके पास गए और–

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा।
जाग न ध्यान जनित्त सुख पावा।।३/६/१७

सुतीक्ष्णजी को जगाने लगे– 'तुम मेरे पास जा रहे थे, अब मैं तो स्वयं आ गया हूँ, उठो, उठो!' पर सुतीक्ष्णजी उठ नहीं रहे हैं। सुतीक्ष्णजी को बाहर निकालने के लिए प्रभु को बहुत अधिक प्रयत्न करना पड़ा। उन्होंने एक दूसरा उपाय किया।

भूप रूप तब राम दुरावा।
हृदय चतुर्भुज रूप देखावा।।
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें।
बिकल हीन मनि फनिबर जैसें।।३/६/१८, १९

भक्ति की यात्रा ऐसी ही होती है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि अयोध्यावासियों की भी स्थिति सुतीक्ष्णजी की सी ही हो गई थी। जब वे अयोध्या से चले तब तो उनकी बुद्धि की स्थिति ठीक थी; पर जब वे चित्रकूट के पास पहुँचे तब–

सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं।
बिहबल बचन प्रेम बस बोलहिं।।२/२२४/४

उनकी स्थिति शराबियों की सी हो गई। पर 'यह शराब कौन सी थी ?' यह बताते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि–

जाहिं सनेह सुराँ सब छाके।।२/२२४/३

सब स्नेह की सुरा पीकर छक गए हैं।

भक्ति के इसी पक्ष से जुड़ी एक अटपटी–सी बात पूरे 'मानस' में दिखाई देती है। गोस्वामीजी ने 'मानस' में भगवान राम की सुंदरता का वर्णन करते हुए जितने चित्र प्रस्तुत किए है, उनमें से एक भी वर्णन ऐसा नहीं है जो पूरा हो। कभी गोस्वामीजी सिर से वर्णन करना प्रारंभ

करते हैं और कटि तक वर्णन करके छोड़ देते हैं। फिर किसी प्रसंग में मुखछवि का वर्णन करते–करते नेत्र का ही वर्णन करना भूल जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि इनमें कोई क्रम भी नहीं है। सुंदरता का वर्णन, कहीं प्रभु के मुखछवि से प्रारंभ करते हैं, तो कहीं हृदय से, तो कहीं प्रभु के कटि से प्रारंभ कर देते हैं। कहीं सिर का वर्णन करते–करते हृदय पर पहुँच जाते हैं, फिर पुनः सिर का वर्णन करने लग जाते हैं। ऐसा वर्णन करना थोड़ा असंगत सा लगता है। पर यही भक्त की दृष्टि है।

गोस्वामीजी इसका उत्तर देते हुए यही कहते हैं कि 'भगवान का विग्रह इतना दिव्य है कि मन जिधर भी जाता है, वहीं लुभाकर रह जाता है।' मेरे साथ भी यही बात है। मैं भी लुभाकर एक स्थल में रह जाता हूँ। और भक्ति की विशेषता यही है कि यदि एक भी भक्ति जीवन में रह जाए तो उतना ही बहुत है।

भगवान राम शबरीजी के समक्ष नवधा भक्ति का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'मेरी पहली भक्ति है– संतों का संग।' रामचरितमानस में ऐसा कोई भी काण्ड नहीं है जहाँ पर सत्संग की महिमा पढ़ने को न मिले। 'कुसंग कितना भयावह होता है और सत्संग कितना कल्याणकारी है', गोस्वामीजी पूरे ग्रन्थ में बार–बार इस बात को दुहराते रहते हैं। गोस्वामीजी ने एक ऐसा दावा भी किया है जो पहली दृष्टि में समझ में नहीं आता। वे कहते है कि–

मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ।
लोकहुँ बेद न आन उपाऊ।।१/२/५, ६

संसार में बुद्धि, कीर्ति, गति, ऐश्वर्य और भलाई ये पाँच वस्तुएँ केवल संत की कृपा से प्राप्त होती हैं। यह बात प्रारंभिक दृष्टि में सत्य नहीं लगती। अनेक व्यक्ति ऐसे हैं कि जो बड़े बुद्धिमान हैं, पर वे सत्संग में तो कभी नहीं जाते। अनेकानेक ऐसे व्यक्ति हैं जिनका बड़ा नाम है,

जिनके पास अपार संपत्ति है, पर किसी ने उन सबको कभी सत्संग में जाते नहीं देखा। अतः इस सत्य को समझने के लिए गोस्वामीजी ने जो 'पायी' शब्द का प्रयोग किया है, उसके अर्थ को हृदयँगम करने की आवश्यकता है।

गोस्वामीजी के शब्दकोश में 'पायी' शब्द का अर्थ मात्र वस्तु को पाना ही नहीं है। इस शब्द की व्याख्या सुन्दरकाण्ड में हनुमानजी और रावण के संवाद में आती है।

हनुमानजी को मेघनाद नागपाश में बाँधकर रावण के पास ले आता है। हनुमानजी जानबूझकर ही बँधकर रावण की सभा में जाते हैं जहाँ वे रावण को उपदेश देते हैं। वे रावण को समझाते हुए कहते हैं कि–

मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।५/२३

'रावण ! तुम तमोगुणी अभिमान से ग्रस्त हो गए हो। यही तुम्हारी सबसे बड़ी समस्या है। अतः इसको छोड़ दो। राजा के रूप में यदि तुममें रजोगुणी अभिमान हो और जो धर्मग्रन्थ, शास्त्र आदि पढ़ते हो, उनका सात्विक अभिमान रहे, तो भी कोई बात नहीं, पर तमोमय अभिमान को तो छोड़ना ही पड़ेगा। और फिर–

भजहु राम रघुनायक कृपा सिंधु भगवान।।५/२३

भगवान के भजन में प्रवृत होने से तुम्हारा अवश्य ही कल्याण होगा।' रावण हनुमानजी की इन बातों को किसी तरह सुनता रहा। पर जब हनुमानजी ने यह कहा कि-

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू।।५/२२/१

तो रावण को क्रोध भी आया और साथ ही हंसी भी आ गयी। रावण को यह सोचकर हँसी आई कि 'मैं लंका के राजा के रूप में राजसिंहासन पर बैठा हुआ हूँ और यह बंदर मुझे लंका का राज्य पाने की बात कह रहा है ! क्या इसे दिखाई नहीं देता ? इसके जैसा मूर्ख व्यक्ति तो आज तक मुझे मिला ही नहीं। मुझे उस वस्तु का लोभ दिखा रहा है जो मेरे

पास पहले से ही है।'

हनुमानजी जान गए कि रावण उनकी बात नहीं समझ पा रहा है, इसलिए उन्होंने कहा– "रावण ! लंका के राज्य सिंहासन पर बैठे हुए दिखाई देने पर भी तुम्हें लंका का राज्य प्राप्त नहीं है। क्योंकि किसी वस्तु के पास होने और उसे पाने में अंतर होता है, जिसे तुम समझ नहीं पा रहे हो।"

दृष्टान्त के रूप में हम देख सकते हैं कि बाजार में जो भारिक होते हैं, बोझा ढोने वाले होते हैं उनके सर पर अनेकानेक सामान लदे रहते हैं। 'सारा सामान मजदूर के सिर पर रखा दिखाई देता है', तो क्या इसका अर्थ है कि उसने उन वस्तुओं को पा लिया है ? क्या वह उन सब का स्वामी है ? वस्तुतः मजदूर ने पाया नहीं, बस ढोया ही। संसार में बहुत से व्यक्ति ऐसे ही होते हैं जो संपत्ति पाते नहीं, ढोते हैं। वे तो बस भार उठाने वाले हैं, मजदूर हैं। हनुमानजी फिर 'पाई' की व्याख्या करते हुए रावण से कहते हैं "रावण !

राम बिमुख संपति प्रभुताई।
जाइ रही पाई बिनु पाई।।५/२२/५

भगवान राम के विरुद्ध होकर कुछ भी पाना संभव नहीं है।" फिर वे दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि वर्षा ऋतु में बरसाती नदी में इतना अधिक पानी आ जाता है कि उसमें बाढ़ आ जाती है, साथ–साथ उसके चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देने लगता है, पर इसका परिणाम विनाश के रूप में ही सामने आता है। बाढ़ का जल बाग–बगीचों और गांवों–शहरों में घुसकर एक विनाश की ही सृष्टि करता है। फिर वर्षा ऋतु के बीत जाने पर, ग्रीष्म काल में, उसमें जल ही नहीं रहता। अतः जिस नदी का जल वर्षा पर आधारित नहीं होता, अपितु जिसका उद्गम एक स्थायी स्रोत होता है, ऐसी नदी ही उपयोगी होती है।

किसी ने गोस्वामीजी से कहा– "आजकल भक्त बहुत हो गए हैं। लगता है भक्तों की बाढ़ सी आ गई है।" गोस्वामीजी ने नदी का दृष्टान्त देते हुए कहा– "हाँ हो गए होंगे ! पर–

भगति भाव भादव नदी सबहि चली घहराय।
सरिता वही सराहिए जो जेठ मास ठहराय।

नदी की परीक्षा तो तब होगी कि जब जेठ मास में भी उसमें जल बना रहे।" इसका अभिप्राय है कि एक ऐसे उद्‌गम से जुड़ी हुई नदी, जिसमें सब काल में जल भरा रहता है, वही कल्याणकारी है। पर जो नदी ऐसे **'सजल मूल'** से अलग हो और काल–विशेष में ही विशाल दिखाई दे रही हो, वह वस्तुतः विनाशकारी ही है। हनुमानजी ने भी यही कहा कि–

सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं।
बरसि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं।।५/२२/६

रावण यदि हनुमानजी की बात का मर्म समझ लेता तो सचमुच वह धन्य हो जाता। सत्संग का इसीलिए बड़ा महत्व है क्योंकि संत ही हमें बताते हैं कि 'किसी वस्तु का पास में होना उसे पा लेना नहीं है। और उसे पाने की ठीक पद्धति क्या है।' संतों के द्वारा बताई गई विधि से जो कुछ भी प्राप्त होता है उसमें पाने का सुख मिलता है तथा एक स्थायित्व होता है।

रावण पहले लंका का राजा था। उसके बाद विभीषणजी लंका के राजा बने। पर सही अर्थों में रावण ने नहीं विभीषणजी ने ही लंका का राज्य प्राप्त किया। अंगदजी और रावण के संवाद में यह बात सामने आती है।

अंगदजी के सामने जब रावण बार–बार अपनी प्रभुता, महानता और लंकाधिपति होने का बखान करने लगा, तो अंगदजी ने एक विचित्र कार्य किया। उन्होंने भरी सभा में अपना पद रोप दिया और रावण को एक अद्‌भुत चुनौती दे डाली।

गोस्वामीजी शब्दों के चुनाव करने में बड़े कुशल हैं। 'पद' का अर्थ पांव तो होता ही है, पर यह शब्द कार्य और अधिकार से जुड़ी विशेषता का भी द्योतक है। गोस्वामीजी कहते हैं कि अंगद ने अपना 'पद' आगे कर दिया और बोले "रावण ! यदि तुम या तुम्हारी सभा का कोई सदस्य

इसे हिला देगा या उठा देगा तो मैं वचन देता हूँ कि सीताजी यहीं रह जाएँगी और भगवान राम अपनी हार मानकर वापस लौट जाएँगे।"

यह कार्य बड़ा विचित्र–सा लगता है, पर है बड़ा संकेतपूर्ण। पद के साथ समस्या है कि 'पद' चलता रहता है, उसमें स्थिरता नहीं है, स्थायित्व नहीं है। इसके छिनने और इससे गिरने का डर भी निरंतर बना रहता है।

'पद' के संदर्भ में यह बात इसलिए महत्वपूर्ण है कि इस सत्य को जानकर व्यक्ति पद पाकर, उसके प्रति बिना आसक्त हुए, उसका सदुपयोग कर सकता है और इस प्रकार समाज की सेवा कर सकता है। व्यक्ति जब यह जान लेता है कि 'संसार का कोई पद सदा नहीं रहता' तो स्वभावतः उसके मन में यह विचार आता है कि 'मुझे ऐसे पद का पता लगाना चाहिए कि जो 'पद' सदा स्थिर रहे।' और इस प्रकार वह ईश्वर की दिशा में प्रवृत्त हो जाता है।

अंगदजी का संकेत मानो यह था कि 'रावण ! तुम क्या समझते हो कि लंका का यह राजपद अचल है ? लगता है तुमने हनुमानजी के उस वाक्य पर ध्यान नहीं दिया जिसमें उन्होंने कहा था कि–

लंका अचल राजु तुम्ह करहू।।५/२२/१

भगवान के चरणों का ध्यान करने से तुम्हें लंका का **अचल राज्य** प्राप्त हो जाएगा।'

'रावण ! तुम आज लंका के जिस सिंहासन पर बैठे हो उस पर न जाने कितने व्यक्ति पहले ही बैठ चुके हैं। और आगे चलकर कौन बैठेगा इसका भी निश्चय नहीं है। क्या तुम ऐसा राज्य नहीं चाहते जो अचल हो ?' अंगदजी रावण को इसी सत्य से कि–

'जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई।'१/२/५

परिचित कराना चाहते थे।

अंगद के कहने पर कि 'तुम सीताजी को पा लोगे, राम हार जाएँगे', रावण को तुरन्त कहना चाहिए था कि 'तुम तो विचित्र जुआड़ी हो। जूआ

खेलने वाला उसे दाव पर लगाता है, जो उसकी जेब में है, पर यदि वह सामने वाले से यह कहे कि 'जो तुम्हारी जेब में है मैं उसे दाव पर लगाता हूँ', तो यह भी कोई दांव हुआ ? रावण कह सकता था कि 'सीताजी तो मुझे प्राप्त हैं, तुम व्यर्थ की बात करते हो !'

पर रावण यह नहीं कहता, अपितु अंगदजी की शर्त को पूरा करने के प्रयास में जुट जाता है। वह अपने सेवकों को आज्ञा देता है कि इस बंदर के पांव उठाकर इसे समुद्र में फेंक दो।

पद गहि धरनि पछारहु कीसा।।६/३३/१०

अंगदजी स्पष्ट करना चाहते हैं कि सीताजी लंका में रावण के अधीन, उसके पास होते हुए भले ही दिखाई दे रही हों, पर रावण को प्राप्त नहीं हैं। रावण ने अगर सचमुच सीताजी को पा लिया होता तो वह राक्षसों को अंगदजी के पैर उठाने के लिए कभी नहीं कहता।

सारे राक्षस योद्धा अंगदजी के पांव को उठाने का भरसक प्रयत्न करते हैं, पर उठा नहीं पाते। अंगदजी व्यंग्य-भरी दृष्टि से रावण की ओर देखते हुए कहते हैं– "रावण ! सब राक्षस प्रयत्न कर चुके, अब तुम ही बाकी रह गए हो। क्यों नहीं, तुम भी एक बार प्रयत्न करके देख लेते ?" अब रावण की कलइ पूरी तरह खुल जाती है। रावण अच्छी तरह जानता है कि सीताजी को पाना तो दूर की बात है, वह तो सीताजी की एक दृष्टि तक पाने में सफल नहीं हो पाया है।

अशोकवाटिका में हनुमानजी के सामने जो दृश्य आया उसमें रावण सीताजी को लोभ और भय दिखाता है और उनसे यही कहता है कि–

एक बार बिलोकु मम ओरा।।५/८/५

अंगदजी मानो यह बता देते हैं कि कोई वस्तु यदि किसी के पास दिखाई दे, तो यह भ्रम नहीं पाल लेना चाहिए कि वह वस्तु सचमुच उसकी है। क्योंकि सचमुच पाने पर उसे आनंद की अनुभूति होनी चाहिए। पर उस व्यक्ति को वस्तु के पास होने पर, पाने के आनंद के स्थान में यदि उस वस्तु के खोने की चिन्ता ही बनी रहे, तो फिर यह पाना कहाँ हुआ? यह तो एक संकट हो गया ! महर्षि व्यास तथा गोस्वामीजी दोनों ने ही इस बात की ओर संकेत किए हैं।

व्यासजी यह बताते हुए कि 'संसार के जीवों का पुरुषार्थ कैसा है ?' एक बड़ी विचारणीय बात कहते हैं। वे कहते हैं कि यह तो कुछ इसी प्रकार की बात हुई कि व्यक्ति को विश्राम के लिए पलँग चाहिए, तो इसके लिए वह दिनभर पलँग को सिर पर लादकर ढोता रहे और चलते–चलते जहाँ रात हो जाए, वहाँ उसे बिछाकर सो जाए ! तो वह ढोया कि सोया ? वस्तुतः उसका सारा श्रम तो ढोने में ही लग गया। वह तो सोने के लिए बस ढोता ही रहा ! गोस्वामीजी इससे भी आगे की जो बड़ी विडंबना है, उसकी ओर संकेत करते हैं।

गोस्वामीजी कहते हैं कि व्यक्ति अगर दिन भर पलँग ढोने के बाद रात्रि में यदि उस पर सो पाता, तो भी ठीक ही था। पर उस व्यक्ति की कल्पना कीजिए जो दिन भर तो पलँग ढोता रहा और रात भर बिछाता रहा। क्योंकि बिछाते समय उसे लगा कि गद्दा ठीक नहीं है, चादर ठीक नहीं है। इसलिए वह रात भर गद्दे–चादर ही बदलता रहा और इस तरह जब सारी रात बिछाने में ही बीत गई तो सोता कब ? गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में यही कहते हैं कि–

डासत ही गइ बीती निसा सब
कबहुँ न नाथ ! नींद भरि सोयो।विनयपत्रिका/२४५/४

मानो व्यक्ति वह सब पाने की चेष्टा कर रहा है जिसकी प्राप्ति में सुख की अपेक्षा दुख अधिक है। रावण का यत्न भी इसी प्रकार का दिखाई देता है।

उस सभा में जब कोई भी योद्धा अंगदजी का पांव नहीं उठा सका तो–

उठा आपु कपि कें परचारे।६/३४/१

रावण स्वयं अंगदजी का पांव उठाने के लिए बढ़ा। इस प्रयास में रावण का सिर अंगदजी के पांव की ओर झुक गया। अंगदजी ने जब यह दृश्य देखा तो तुरन्त व्यंग्य करते हुए कहा– "रावण ! तुम कैसे विचित्र व्यक्ति हो ? तुम्हें भगवान राम के पैर पकड़ने में तो संकोच होता है, पर बंदर का पैर पकड़ने में कोई संकोच नहीं हो रहा है ! गोस्वामीजी

यही लिखते है कि–

गहत चरन कह बालिकुमारा।
मम पद गहें न तोर उबारा।।
गहसि न राम चरन सठ जाई।६/३४/२, ३

अंगदजी ने कहा– "अरे दुष्ट मेरा चरण पकड़ने के स्थान पर अगर तू भगवान राम के चरण पकड़ लेगा तो धन्य हो जाएगा।"

अंगदजी के इस कार्य के औचित्य–अनौचित्य को लेकर प्रश्न करने वाले पूछते हैं कि 'क्या उन्हें ऐसी प्रतिज्ञा करने का अधिकार था ?' आज भी लोगों के मन में यह आशंका दिखाई देती है कि 'अगर उनका पांव उठ जाता तो क्या होता ?'

लोगों की चिन्ता भी बड़ी अनोखी होती है। अंगदजी का पांव उठा नहीं, पर उस बात को लेकर आज भी लोगों के मन में चिन्ता हो जाती है। उस समय भी यह प्रश्न बंदरों के मन में उठा कि 'ऐसी प्रतिज्ञा करना क्या दुस्साहसपूर्ण नहीं था ?' तब उन्होंने अंगदजी से प्रश्न कर दिया– "आपने इतनी बड़ी प्रतिज्ञा उस सभा में कैसे कर दी जिस सभा में कैलाश पर्वत को उठाने वाला रावण विद्यमान था ?"

अंगदजी इस बात को जानते थे। क्योंकि वार्तालाप करते हुए रावण ने स्वयं अंगदजी से यह बात कही थी। रावण ने अंगदजी से कहा था कि 'बंदर ! तू क्या जानता है कि मैंने शंकरजी की पूजा किस पद्धति से की है ? लोग तो फूल चढ़ाकर भगवान शंकर की पूजा करते हैं, पर मैंने तो अपने सिर अर्पित कर उनकी पूजा की है।'

रावण अंगदजी से आगे यह भी कहता है कि 'अंगद ! अन्य सब तो देवता के पुष्प को सिर पर धारण करते हैं, पर मैंने तो कैलाश पर्वत सहित शंकरजी को ही अपने सिर पर धारण कर उनकी वंदना की है। क्या तुमने इतिहास में ऐसे किसी और विलक्षण व्यक्ति के बारे में सुना है ?'

अंगदजी ने रावण की बात सुनकर कहा– "रावण ! इन दोनों

घटनाओं से मुझे पता चल गया कि असल में तुम कौन हो ?"

–"क्या पता चल गया ?" रावण ने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

–"रावण ! शंकरजी की पूजा में अपने सिर अग्नि में समर्पित करने तथा वंदना में कैलाश सहित उनको अपने सिर पर उठा लेने की तुम्हारी दोनों बातों से मैं समझ गया कि सचमुच तुम एक ऐसे विचित्र प्राणी हो जिसका निर्माण पतंगे और गधे को मिलाने से हुआ है। तुम पतंगे के समान मूर्ख हो और गधे के समान (केवल) भार ढोने वाले (व्यक्ति) हो।" अंगदजी के इस कथन के पीछे जो व्यंग्यात्मक संकेत है, वह बड़े महत्व का है।

पतंगा दीपक की लौ में जलकर मर जाता है। पर यह तो मूर्खता की पराकाष्ठा है। पतंगा यदि प्रकाश का प्रेमी है तो उससे दूर रहकर भी वह प्रकाश का सदुपयोग कर सकता है। प्रकाश से मृत्यु के स्थान पर जीवन को प्रकाशित कर धन्य हो सकता है। अंगदजी रावण को बताना चाहते हैं कि सीताजी को पाने का उसका जो मोहजन्य प्रयास है वह उसे नष्ट करने वाला है। इसलिए वे कहते हैं कि–

जरहिं पतंग मोह बस भार बहहिं खर बृंद।
ते नहिं सूर कहावहिं समुझि देखु मतिमंद।।६/२६

पतंगा प्रकाश का प्रेमी नहीं, मोहान्ध है, मूर्ख है। और गधा कोई गुणज्ञ या शूरवीर न होकर बस, भार ढोने वाला मात्र ही होता है।

'भगवान शंकर को रावण ने अपने सिर पर उठा लिया', यह कुछ इसी तरह की बात है, जो संस्कृत के एक श्लोक में चंदन लादकर ले जाते हुए एक गधे के विषय में कही गई है कि–

यथा खरः चंदनभारवाही भारस्यवेत्ता न चंदनस्यः।

गधे के ऊपर चंदन लदा देखकर यह भ्रम नहीं पाल लेना चाहिए कि चंदन के गुण को जानकर ही वह उसे ले जा रहा है। वस्तुतः गधा चंदन और कूड़ा–कर्कट इन दोनों में भेद करना जानता ही नहीं। उसे तो दोनों को ही बस, एक भार समझकर ढोना है।

अंगदजी रावण को बताना चाहते हैं कि 'रावण तुमने भी शंकरजी को सिर पर धारण नहीं किया, अपितु एक बोझ समझकर उठा लिया। क्योंकि यदि तुमने सचमुच शंकरजी को सही अर्थों में धारण किया होता तो फिर तुम्हारे मस्तिष्क में श्रद्धा और विश्वास का उदय होता ! पर ऐसा कुछ तो तुममें दिखाई नहीं देता। रावण ! तुम तो बस बोझ ढोने वाले एक गधे हो !'

हमारे यहाँ परंपरा रही है कि लोग जब किसी संत–महात्मा के पास जाते हैं तो अपना सिर उनके पैरों में रख देते हैं। पर रावण की विडंबना यह है कि वह अपना सिर भगवान शंकर के चरणों में न रखकर उन्हें ही उठाकर अपने सिर पर रख लेता है।

संत-महात्मा या गुरु के चरणों में सिर झुकाने का अर्थ है कि व्यक्ति के सिर पर जो भार है, बोझ है, उसे वह उनके चरणों में रख देता है और स्वयं भारमुक्त होकर हल्का हो जाता है। पर रावण अपने सिर का भार शंकरजी के चरणों में न रखकर, उन्हें ही एक भार बनाकर अपने सिर पर रख लेता है।

अंगदजी रावण को बताना चाहते हैं कि 'रावण ! तुमने अपने जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं किया है, बस तुमने केवल पाने का भ्रम पाल लिया है, वस्तुतः तुम तो केवल भार ही ढो रहे हो।' रावण सचमुच पाने की सही पद्धति नहीं जानता। क्योंकि सत्संग ही एकमात्र वह मार्ग है, जिस पर चलकर पाने में ही पाने की सार्थकता है। रावण की विधि से पाने का यत्न करना बड़ा अकल्याणकारी है। क्योंकि इस मार्ग से पाने की चेष्टा में व्यक्ति की भी वही दशा हो सकती है जो रावण की हुई।

गोस्वामीजी कहते हैं कि सीताजी को पाने के लिए रावण ने साधु का वेष बना लिया था। वस्तुतः **सीताजी को पाने का उपाय साधु बनना है, साधु का वेष बनाना नहीं है।** साधु का वेश बनाना सबसे सरल है। इसके लिए तो कपड़े को रंगना भर है। **रावण यदि सचमुच साधु बनता तो सीताजी को सही अर्थों में पा लेता।** पर उसने तो साधु का स्वांग किया, साधु बनने का नाटक किया।

'मानस' में पुनर्जन्म की अनेक गाथाओं का वर्णन मिलता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है। इन गाथाओं से यह संकेत मिलता है कि व्यक्ति इस जन्म में जो कार्य करता है उसका संबंध पूर्वजन्म के संस्कारों से जुड़ा रहता है। और संसार में यही बुराई का चक्र है। रावण मृग लेकर ही सीताजी का हरण करने क्यों गया ? क्योंकि पूर्वजन्म में जब वह प्रतापभानु था, कालकेतु राक्षस ने बराह का रूप बनाकर उसे छला था। रावण साधु का वेष भी इसीलिए बनाता है, क्योंकि पूर्वजन्म में उसे ठगने वाला कपटी मुनि भी साधु वेषधारी था। रावण सोचता है कि 'जैसे मैं ठगा गया उसी पद्धति से मैं भी ठगूंगा।' यही संस्कार जन्य वृत्ति है। यह रावण का दुर्भाग्य है कि सीताजी को पाने की सही पद्धति, सही मार्ग का उसके जीवन में अभाव है।

गोस्वामीजी लिखते हैं कि रावण सीताजी को पाने के लिए जिस मार्ग का चुनाव करता है, वह 'सुपंथ' नहीं 'कुपंथ' है। 'सीताजी का हरण करने के लिए जाते समय रावण की कैसी दशा हो जाती है', इसका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं कि 'क्या यह वही रावण है कि–

जाकें डर सुर असुर डेराहीं।
निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं।।३/२७/८

जिसके डर से देवता तक कांपते हैं ? आज तो स्वयं उसके ही पांव कांप रहे हैं–

सो दससीस स्वान की नाईं।
इत उत चितइ चला भड़िहाईं।।३/२७/६

क्योंकि–

इमि कुपंथ पग देत खगेसा।
रह न तेज तन बुधि बल लेसा।।३/२७/१०

अतः इस मार्ग से चलकर सीताजी को पाने का प्रयास करना कदापि कल्याणकारी नहीं है।'

गोस्वामीजी अंगदजी की प्रतिज्ञा के विषय में कहते हैं कि–

तेहि समाज कियो कठिन पन जेहिं तौल्यो कैलास।
तुलसी प्रभु महिमा कहौं सेवक को बिस्वास।।
(दोहावली-१६७)

जिस रावण ने कैलाश पर्वत को उठा लिया था उसकी उपस्थिति में अंगदजी ने ऐसी कठिन प्रतिज्ञा की, इसके पीछे प्रभु की महिमा है या सेवक का विश्वास है ? सत्य तो यह है कि ये दोनों ही इसके पीछे विद्यमान हैं।

अंगदजी ने बंदरों को उत्तर देते हुए यही कहा था– "जानते हो मैंने पद क्यों रोप दिया ? हनुमानजी की उस बात को सुनकर जो उन्होंने लंका से लौटकर आने के बाद लंका का समाचार सुनाते हुए बतायी थी।" हनुमानजी ने रावण को समझाते हुए यही कहा था कि–

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राज तुम्ह करहू।।५/२२/१

'रावण ! यदि तुम भगवान के चरणों का ध्यान करोगे तो तुम्हारा लंकाधिपति का पद अचल हो जाएगा।'

अंगदजी ने कहा– "मैंने सोचा कि हनुमानजी जैसे संत रावण जैसे व्यक्ति को जिनके ध्यान के बल पर लंका के राजपद की अचलता का आश्वासन देते हैं, उन प्रभु के चरणों के ध्यान से क्या मेरा पद भी अचल नहीं हो जाएगा ? क्योंकि मैं तो उन्हीं श्रीराम का दूत ही हूँ।" मानों संत की वाणी का यह विश्वास ही अंगद के प्रण के पीछे नियामक शक्ति है। 'मानस' में इसीलिए सबसे अधिक महिमा संतों की ही गाई गई है। **संत हमें संसार की वास्तविकता से परिचित कराते हैं और भगवत्प्राप्ति का उपाय बताते हैं।** इसलिए भक्ति का श्रीगणेश सत्संग से ही होता है।

।।बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।।

।। श्री रामः शरणं मम।।

७

रामचरितमानस में किष्किन्धाकाण्ड के प्रारंभ में भी एक ऐसा प्रसंग है जो उपदेश–सा प्रतीत होता है, पर वह भी उपदेश न होकर स्तुति ही है।

भगवान राम चित्रकूट से विदा लेते हुए महर्षि अत्रि के आश्रम में पधारते हैं। श्रीसीताजी अनुसुइयाजी के चरणों में जब प्रणाम करती हैं तो उस समय अत्रि–पत्नी अनुसुइयाजी उन्हें पातिव्रत–धर्म का उपदेश देती हैं। पर अंत में वे यह भी कह देती हैं कि 'मैंने यह जो उपदेश दिया है, वह आपके लिए नहीं है। क्योंकि आपके तो नाम में ही ऐसी शक्ति है कि जिसके स्मरण मात्र से स्त्रियाँ पातिव्रत–धर्म में आरूढ़ हो सकती हैं।

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित।।३/५ (ख)

मैंने तो आपको माध्यम बनाकर जो कुछ कहा है, वह संसार की स्त्रियों के हित को ध्यान में रखकर ही कहा है।' भगवान राम भी ठीक इसी पद्धति से, शबरीजी को निमित्त बनाकर, नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं। और उसका प्रारंभ करते हुए संतों के संग को, 'सत्संग' को अपनी प्रथम भक्ति बताते हुए कहते हैं कि–

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।३/३४/८

प्रभु के द्वारा सत्संग को प्रथम स्थान में रखना मानो यह संकेत देने के लिए है कि उनकी दृष्टि में संत और उनके संग का महत्व सर्वोपरि है। भगवान बताना चाहते हैं कि 'मेरी भक्ति पाने के लिए पहली आवश्यकता है कि व्यक्ति संतों के पास जाए।'

'भगवान का भक्त' कहने से स्वभावतः हमारे मन में एक ऐसे व्यक्ति का चित्र उभरता है कि जो भगवान की पूजा करता है, स्तुति करता है और सेवा आदि करता है। पर भगवान नवधा भक्ति का प्रारंभ किसी ऐसे क्रियात्मक या विधि–विधान वाले पक्ष के वर्णन से नहीं करते। वे तो बस संत की निकटता प्राप्त करने, संत से जुड़ने की आवश्यकता का उपदेश देते हैं।

नवधा भक्ति के उपदेश के प्रसंग में एक और भी विशिष्ट बात आती है। भगवान राम पहली भक्ति के रूप में संतों की महता का प्रतिपादन करते हैं और फिर इस क्रम में आगे जाकर सातवीं भक्ति का निरूपण करते हुए कहते हैं कि–

सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा।।३/३५/३

'संसार में सर्वत्र मुझे देखकर सबसे समानता का व्यवहार करे, पर मेरी अपेक्षा भी संत को अधिक महत्व की दृष्टि से देखें ! इस प्रकार संत की महिमा का वे दो बार स्मरण कराते हैं।

भगवान की दृष्टि में संत की महिमा इतनी विलक्षण है। वे बताना चाहते हैं कि व्यक्ति संत के आश्रय से ही भगवान की भक्ति पा सकता है और फिर साधना के सोपान में आगे बढ़ते–बढ़ते उसे यह प्रतीत हो जाता है कि संत का स्थान तो भगवान से भी श्रेष्ठ है। 'प्रभु ऐसा क्यों कहते हैं ?' इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

इस ब्रह्माण्ड की रचना को लेकर पुराने काल से ही चिन्तन–मनन चलता रहा है। आधुनिक विज्ञान भी इसकी रचना कब और कैसे हुई? इसकी व्याख्या करने के लिए नई–नई कल्पनाएँ प्रस्तुत करता रहता है। अध्यात्म विज्ञान में भी इसका उत्तर देने का प्रयास किया गया है जो हृदयँगम करने योग्य है।

एक प्रश्न तो यही सामने आता है कि संसार के मूल में कौन है? भौतिक विज्ञान यह नहीं मानता कि संसार की रचना के पीछे कोई ईश्वर

है। उसकी मान्यता है कि यह सृष्टि जड़ का विकास है। माना जाता है कि एक बहुत बड़े विस्फोट के परिणाम स्वरूप पृथ्वी एक खौलते हुए लावे के रूप में अलग हुई। फिर लंबे समय तक शीतल होने के बाद उसकी सतह ने ठोस रूप ग्रहण किया और फिर क्रमशः विकास की प्रक्रिया चलती रही। आध्यात्म शास्त्र की मान्यता इससे सर्वथा भिन्न है।

अध्यात्म शास्त्र सृष्टि के मूल में जड़ प्रकृति को नहीं मानता। उसकी मान्यता है मूल में जड़ प्रकृति नहीं, चैतन्य ईश्वर है। **यह सृष्टि जड़ प्रकृति का विकास न होकर चैतन्य ईश्वर का विलास है।** पर ऐसा कहने के बाद कई और प्रश्न भी सामने आते हैं। ईश्वर कौन है ? क्या वह कोई व्यक्ति है ? अथवा वह कोई शक्ति है ? इस प्रश्न को लेकर 'मानस' में ईश्वर से जुड़े दो शब्द आते हैं। एक है **'स्वरूप'** और दूसरा है **'रूप'**।

'स्वरूप का अर्थ है कि 'भगवान का जो अपना रूप है', और 'रूप' का अर्थ है कि भक्त उसे जिस रूप में पाना, देखना चाहता है। भक्ति शास्त्र की मान्यता है कि ईश्वर भक्त की आकांक्षा को पूर्ण करता है और भक्त उसे जिस रूप में पाना चाहता है, वही रूप धारण कर लेता है।

ईश्वर का रूप कैसा है ? इसका उत्तर देते हुए 'मानस' में कहा गया है कि–

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह।।२/१२६

ईश्वर का स्वरूप मन, बुद्धि से परे है। वह बड़ा विलक्षण है। कोई भले ही उसके स्वरूप के वर्णन का प्रयास करे, पर वह ठीक–ठीक वर्णन नहीं कर पाएगा, अतः वह स्वरूप–वर्णन सत्य नहीं होगा। ऐसी स्थिति में पूछा जा सकता है कि 'भगवान के उस स्वरूप को जो संसार के मूल में विद्यमान है, कैसे हृदयँगम किया जा सकता है ?'

इसका उत्तर देते हुए दो शब्दों का प्रयोग किया गया। शास्त्रों में कहा गया कि ईश्वर **अगुण** है, पर भक्तों की मान्यता है कि ईश्वर **सगुण** है। भक्त यह भी मानते हैं कि सगुण रूप में ही वह क्षीरसागर अथवा बैकुण्ठ आदि लोक में निवास करता है। उसके इसी रूप के द्वारा सृष्टि का निर्माण होता है और सृष्टि का क्रम चलता रहता है।

इस मान्यता को लेकर भी कई प्रश्न पूछे जाते हैं। 'यदि यह सृष्टि ब्रह्म के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है तो इसमें इतना दुख कहाँ से आ गया ? इसमें तो केवल सुख और आनंद ही आनंद होना चाहिए था। पर संसार में इतनी विभीषिका, इतना अन्याय, इतना कष्ट दिखाई देता है और इतना सब कुछ होने पर भी ब्रह्म के द्वारा इसमें हस्तक्षेप क्यों नहीं होता ?' रामायण में इन प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा की गई है।

'मानस' में कहा गया कि **'ब्रह्म प्रकाशक है और जो प्रकाशक होता है, वह हस्तक्षेप नहीं करता।'** भौतिक दृष्टान्त के रूप में लें तो कह सकते हैं कि जैसे बिजली का जो प्रकाश है, वह बड़ा उपयोगी है। पर उस प्रकाश में बैठकर कोई भगवद्भक्ति का उपदेश दे, अथवा मंच पर बैठकर लोगों के मन में विद्रोह उत्पन्न करे, प्रकाश उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता। ऐसा नहीं होता कि रामायण की कथा हो तो प्रकाश बढ़ जाए और दूसरी सांसारिक बातें करने पर वह घट जाए। भगवान शंकर के द्वारा भगवान राम की जो स्तुति की गई है, उसमें यही बात कही गई है। भगवान शंकर कहते हैं कि–

विषय करन सुर जीव समेता।
सकल एक तें एक सचेता।।
सब कर परम *प्रकासक* जोई।
राम अनादि अवधपति सोई।।१/११६/५, ६

इसी प्रकाश के माध्यम से व्यक्ति संसार को देखता है और उसका अनुभव करता है।

नेत्र के माध्यम से हम संसार को देखते हैं, पर क्या नेत्र में वह

शक्ति है कि यह हमें संसार को दिखा सके ? आंखें न हों तब तो संसार को देख पाना असंभव है, पर यदि सूर्य का प्रकाश न हो तो भी कुछ नहीं दिखाई देगा। पर आंख और सूर्य दोनों के होते हुए भी व्यक्ति में 'जीव' न हो तो क्या वह देख पाने में समर्थ होगा ? क्योंकि आँखों के पीछे जो प्रकाशक शक्ति है वह जीव है। शव में आंखों के विद्यमान होने पर भी वे जीव के न होने से नहीं देख पातीं। नेत्र और सूर्य भी जीव के शरीर में रहने तक ही प्रभावशाली हैं।

पूछा जा सकता है कि 'ऐसी स्थिति में जीव के चले जाने पर संसार मिट जाता है क्या ? संसार में जीव का अभाव हो जाता है क्या ?' नहीं, ऐसा कुछ होता हुआ दिखाई नहीं देता। सब कुछ ज्यों का त्यों चलता रहता है। क्योंकि इस जीव का भी एक प्रकाशक है और उस परम प्रकाशक का नाम है 'ईश्वर'। पर इस परम प्रकाशक ब्रह्म में कोई हस्तक्षेप की वृत्ति नहीं है। 'गीता' और 'मानस' दोनों में यह बात कही गई है।

भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं कि–

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। (गीता-९/२९)

'अर्जुन ! मैं सम हूँ। मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ और न ही राग करता हूँ।' रामचरितमानस में भी यही बात कही गई कि–

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू।२/२१८/३

ब्रह्म में तटस्थता ही दिखाई देती है। यद्यपि ब्रह्म का यह स्वरूप तात्त्विक दृष्टि से बड़ा तर्क–संगत लगता है, पर इस प्रकाशक ईश्वर से हमें क्या मिलने वाला है ? वह सबके मूल में है, इसे जान लेने के बाद भी हमारी समस्याओं का कोई समाधान नहीं प्राप्त हो सकता। इसी दृष्टि से अगुण और सगुण की कड़ी को जोड़ने का प्रयास किया गया है। 'मानस' तथा पुराणों में इसे अनेकानेक भावनात्मक पद्धतियों से समझाने की चेष्टा की गई है। इसके लिए पुराणों में प्रहलाद आदि अनेक भक्तों के उदाहरण दिए गए हैं।

गोस्वामीजी भी प्रहलादजी को सबसे बड़ा भक्त मानते हैं और 'कवितावली' रामायण के एक पद में वे प्रहलाद से ही सगुण पूजा का प्रारंभ होने की बात कहते हैं। रामायण में महाराज मनु के प्रसंग में ब्रह्म के अगुण से सगुण बनने की बात कही गई है।

हम सब के मूल में आदि पुरुष के रूप में महाराज मनु का नाम लिया जाता है। वर्णन आता है कि महाराज मनु जब भगवान को पाने के लिए साधना करते हैं तो ईश्वर के अनेक रूप उनके सामने आते हैं।

बिधि हरि हर तप देखि अपारा।
मनु समीप आए बहु बारा।
मागहु बर बहु भाँति लोभाए।१/१४४/२-३

ब्रह्मा, विष्णु और शिव अनेक बार मनु के सामने आते हैं और उनसे वरदान मांगने का आग्रह करते हैं। पर महाराज मनु उनसे कोई याचना नहीं करते। उनके हृदय में कुछ और ही आकांक्षा है। वे चाहते हैं कि यह प्रकाशक, निर्गुण–निराकार ब्रह्म कुछ ऐसे रूप में हमारे सामने आए, जिसमें हमारी समस्याओं के प्रति सहानुभूति हो और जो उनके समाधान के लिए हस्तक्षेप करे।

महाराज मनु इसीलिए प्रत्येक रूप को अस्वीकार कर देते हैं। वे शास्त्रों के ज्ञाता हैं। वे जानते हैं कि ब्रह्म सर्वत्र निवास करता है। इसलिए वे साधना प्रारंभ करते समय किसी विशिष्ट देवी या देवता के मंत्र का जप नहीं करते। वे जिस मंत्र का जप करते हैं उसके विषय में गोस्वामीजी कहते हैं कि–

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।१/१४३

अब, इस द्वादशाक्षर मंत्र को लेकर आज भी बडा मतभेद है। अवध के रामानंद संप्रदाय के संत आज भी यही मानते हैं कि मनुजी ने जिस द्वादशाक्षर मंत्र का जप किया उस मंत्र के बारह अक्षरों में छः अक्षर 'श्री रामाय नमः, भगवान राम के तथा छः अक्षर 'श्री सीतायै नमः' के रूप में श्री सीताजी के थे। पर यह तो एक आग्रह की बात कही जाएगी। क्योंकि गोस्वामीजी ने जिस मंत्र–जाप का संकेत दिया है वह तो 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' के रूप में ही था। गोस्वामीजी यही कहते हैं कि–

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग।।१/१४३

अवध के ही कुछ स्नेही जन जो इसे भगवान कृष्ण का मंत्र मानते हैं और वे यही कहते हैं कि 'एक रामभक्त यह मंत्र क्यों जपेगा ?' पर यह भी एक भ्रम है जो लोगों ने पाल लिया है।

यह सत्य है कि भगवान कृष्ण ने वसुदेव के पुत्र के रूप में अवतार लिया इसलिए 'वासुदेव' कहलाए। पर यहाँ मंत्र में प्रयुक्त वासुदेव शब्द भगवान कृष्ण का बोधक न होकर– **'वासे वासे तिष्ठति स वासुदेवः'**, उस ब्रह्म की ओर संकेत करता है जो सर्वव्यापक है। महाराज मनु उस ब्रह्म को पाना चाहते हैं जो सर्वत्र विराजमान है।

वासुदेव के रूप में ब्रह्म भले ही सभी स्थानों में निवास करता हो, पर जीवन में कहीं भी उसकी अभिव्यक्ति दिखाई नहीं देती। गोस्वामीजी की भी चिंता का कारण ब्रह्म का यही स्वरूप है। वे कहते हैं कि–

अस प्रभु हृदयँ अछत अविकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी।।१/२२/७

'क्या उसका हमारे हृदय में होने से हमारा–आपका हृदय बदल गया ? हमें फिर दुख और चिन्ता से मुक्ति क्यों नहीं मिल जाती ?' स्पष्ट हो गया कि हमारे हृदय में होते हुए भी वह हमारे लिए उपयोगी नहीं है। गोपियों और उद्धव के संवाद में भी यही भावना दिखाई देती है।

उद्धव गोपियों को समझाते हुए कहते हैं कि 'ब्रह्म तो निर्गुण–निराकार है, वह तो राग–द्वेष कुछ करता ही नहीं। अतः तुम सब व्यर्थ ही उसके लिए दुख पा रही हो।' किन्तु गोपियों पर इस तत्वज्ञान

का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे उद्धव से भावपूर्ण तर्क करते हुए कहती हैं कि 'उद्धव ! अगर आपका ब्रह्म हाथवाला नहीं है, तो फिर हमारी गाएँ कौन चराएगा, कौन उनको दुहेगा ? और यदि उसका मुख नहीं है तो कौन माखन– मिश्री चुराकर खाएगा ?'

निर्गुन कौन देस को बासी।

'हम तो व्रज में निवास करने वाले कृष्ण को जानते हैं। उद्धव! जिस निर्गुण की आप बात कर रहे हैं वह किस देश में निवास करता है ?' यह संत की दृष्टि है। ब्रह्म ऐसे ही संतों के माध्यम से अवतार लेता है।

वर्णन आता है कि मनु के सामने पहले कोई रूप नहीं आया, आकाशवाणी हुई और केवल शब्द सुनाई पड़ा। जब निराकार का रूप ही नहीं है, तो वह कैसे सामने आता ? 'शब्द' मानो मंत्र की प्रतिध्वनि है। इसलिए वह प्रतिध्वनि ही शब्द के रूप में सुनाई पड़ी। पर मनु तो निर्गुण को सगुण बनाने के लिए आए हैं। इसलिए उन्होंने ब्रह्म को एक नाम देते हुए कहा–

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।१/१४५/१

'आप **सुरधेनु** हैं, आप **सुरतरु** हैं।' ये दोनों ही नाम बड़े सांकेतिक हैं।

पुराणों में एक ऐसे वृक्ष की धारणा की गई है कि जिसका स्वयं अपना कोई फल नहीं होता। पर व्यक्ति उसके नीचे जाकर जिस फल की कामना करता है, सुरतरु उसे वही फल दे देता है। पर इस सुरतरु से मनचाहा फल पाने के लिए–

जाइ निकट पहिचानि तरु,

पहले उसके पास जाना होगा, उस वृक्ष को पहिचानना होगा कि यह कल्पतरु ही है ! इसके पश्चात्–

मागत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोच।।२/२६७

व्यक्ति उससे जो कुछ मांगेगा, अवश्य प्राप्त कर लेगा।

कई लोग सगुण-साकार को भक्तों की कल्पना मानते हैं। भक्त उनसे कहते हैं कि 'आप लोग इसे कल्पना मानते हों, पर हम तो कल्पतरु के रूप में पहिचानते हैं। संसार में व्यक्ति कल्पना करता है, पर सभी कल्पनाएँ तो किसी की भी पूरी नहीं होतीं। पर **कल्पतरु तो कल्पनाओं को ही पूरा करता है।** कल्पना व्यर्थ तो तब है जब वह साकार न हो सके, पर कल्पवृक्ष के नीचे पहुँच जाने से कल्पना साकार हो जाती है।

मनुजी ने भगवान को जो दूसरा नाम दिया '**सुरधेनु**', यह भी बड़ा सुन्दर नाम है। भगवान की विशेषताओं का वर्णन करते समय उन्हें भक्तवत्सल की उपाधि दी जाती है। भक्त उनके बछड़े हैं और भगवान धेनु हैं।

धेनु (गाय) के पास दूध होता है। पर उससे सीधे दूध प्राप्त करना सरल नहीं होता। और बछड़े के माध्यम से गाय से दूध पाने में कोई कठिनाई नहीं होती। क्योंकि अपने बछड़े को देखकर गाय के थन से दूध अपने आप बाहर निकल आता है। इसलिए चतुर दुहनेवाला बछड़े को आगे कर देता है। फिर कुछ देर तक बछड़े के आनंदपूर्वक दूध पी लेने के बाद स्वयं भी दूध प्राप्त कर लेता है।

भगवान भी धेनु हैं। संसार के हम सब लोग उनके कृपा–दूध को पाना चाहते हैं। पर इसके लिए संत रूपी बछड़े की आवश्यकता है। क्योंकि संत ही भगवान के हृदय में कृपा की वृत्ति उत्पन्न करते हैं। संत परम उदार होते हैं। इसलिए वे सबको निमंत्रण भी देते रहते हैं कि सब आकर प्रभु–कृपा प्राप्त कर धन्यता का अनुभव करें।

मनुजी प्रभु को उनके गुणों का स्मरण दिलाते हुए यही कहते हैं कि–

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।
बिधि हरि हर बंदित पद रेनू।।
सेवत सुलभ सकल सुख दायक।
प्रनतपाल चराचर नायक।।

जौं अनाथ हित हम पर नेहू।

तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू।।१/१४५/१-३

अब मनुजी स्वरूप को रूप से जोड़ना चाहते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि–

जो सरूप बस सिव मन माहीं।

जेहि कारन मुनि जतन कराहीं।।

जो भुसुंडि मन मानस हंसा।

सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा।।१/१४५/४, ५

शंकरजी तो अपने हृदय में आपके **'स्वरूप'** को धारण करते हैं। वे इसमें समर्थ हैं क्योंकि वे स्वयं शुद्ध आत्मतत्व में प्रतिष्ठित हैं। पर मैं तो आपका **'रूप'** देखना चाहता हूँ।

देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।१/१४५/६

मनुजी ईश्वर से, स्वरूप से उतरकर, रूप धारण करने की प्रार्थना करते हैं।

'रूप को जानकर स्वरूप में जाना' यह वेदान्त है और 'स्वरूप को जानकर रूप में उतार लाना' यही भक्ति है। ज्ञानी ऊपर उठकर ब्रह्म से एकत्व स्थापित करता है, पर भक्त भगवान को ही नीचे उतारकर अपने बीच ले आता है।

मनुजी की प्रार्थना सुनकर उनके सामने एक दिव्य रूप प्रगट हुआ। पूछा जा सकता है कि वे किस लोक से आए ?

लोकों को भी लेकर विवाद है, तर्क–वितर्क हैं। लोगों ने लोकों की दूरियों की भी बात कही है। कुछ लोगों का मत है कि मनु के सामने प्रभु साकेत लोक से आए, तो कुछ कहते हैं कि बैकुण्ठ लोक से आए। पर यह तो एक न समाप्त होने वाला विवाद है। कौन जाकर नापे कि कौन–सा लोक कितनी दूरी पर है और उसमें कौन से भगवान निवास करते हैं ? कबीरदासजी ने इस विषय में अपनी व्यंग्यात्मक शैली में एक अच्छी बात कही है।

किसी ने कबीरदासजी से पूछा– "महाराज ! आप हमें स्वर्ग के विषय में कुछ सुनाइए।" कबीरदासजी ने कहा– "तुम सुनना चाहते हो, यह तो ठीक है, पर क्या बताएँ, इस विषय में एक बहुत बड़ी कठिनाई है। किसी स्थान के विषय में वही व्यक्ति ठीक से बता सकता है जो वहाँ की यात्रा करके वापस लौटा हो ! पर यहाँ तो स्थिति भिन्न है, क्योंकि–

इतते सबही जात हैं भार लदाय लदाय।

इधर से सब लोग उधर जाते हुए ही दिखाई देते हैं, किन्तु–

उतते कोई न लौटा जाते पूछौं धाय।।

उधर से लौटकर आता हुआ कोई दिखाई ही नहीं देता। तो फिर किससे पता चले कि मरने वाला व्यक्ति कहाँ जाता है ?"

गोस्वामीजी भी मानते हैं कि स्वर्ग और नर्क के विवाद को सुलझाना बड़ा कठिन काम है। किसी व्यक्ति का शोक–समाचार देते समय यद्यपि उसके स्वर्गीय होने की बात कही जाती है, पर क्या वह सचमुच स्वर्ग ही गया होगा ? नर्क में भी तो जा सकता है। गोस्वामीजी इस विषय में 'विनयपत्रिका' के एक पद में कहते हैं कि–

को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर परधाम को।

'क्यों व्यर्थ इस विवाद में पड़ते हो कि कौन नरक में जाता है अथवा ब्रह्मलोक या शिव लोक में जाता है ! उन लोकों की बात छोड़ो ! जब उधर जाने की बात उठेगी तो देखी जाएगी। अभी तो वर्तमान की बात सोचते हैं।' गोस्वामीजी कहते हैं कि–

को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर परधाम को।

तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलाम को।।

(विनयपत्रिका/१५५/५)

राम का जो भक्त है, वह इसी जन्म में उन्हें पाकर धन्यता प्राप्त कर लेता है। वह किसी काल्पनिक स्वर्ग–नर्क में जाकर सुख–दुख पाने के विषय में सोचने के स्थान पर इसी जीवन में ही आनंद पा लेता है।

इसके पीछे गोस्वामीजी का यह उद्देश्य नहीं है कि जिनके मन में लोकों की धारणा है, उस विचारधारा का वे खण्डन करना चाहते हैं। वे तो बस, भक्तों के मन की जो बात है, उसे ही बताना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि व्यक्ति भविष्य के विवाद में फँसने के स्थान पर वर्तमान को सार्थक बनाने का यत्न करे ! देवताओं के सामने भी लोकों से जुड़ी समस्या का संकेत 'मानस' के एक प्रसंग में आता है।

रावण का अत्याचार जब बढ़ गया तो सभी सोचने लगे कि इस समस्या का समाधान क्या है ? देवता और मुनि सबने अपनी सीमाएँ और असमर्थताएँ बताईं और कह दिया कि उनके पास इसका कोई समाधान नहीं है। जब ब्रह्माजी से पूछा गया तो उन्होंने भी कह दिया–

मोर कछू न बसाई।

"मेरे वश में भी कुछ नहीं है।" –"अब समाधान कौन देगा ?" प्रश्न उठा। सबने विचार किया कि एकमात्र ईश्वर ही इसका समाधान दे सकता है, अतः उसी से अपनी बात कहनी चाहिए। पर इस निर्णय के बाद एक बहुत बड़ी कठिनाई सामने आ गई कि 'ईश्वर मिलेगा कहाँ? वह कहाँ रहता है और किस रूप में रहता है ?' वहाँ जो लोग उपस्थित थे उनके मत, इस विषय में, भिन्न–भिन्न थे। किसी का मत था कि ईश्वर वैकुण्ठ लोक में रहते हैं–

पुर बैकुंठ जान कह कोई।१/१८४/२

तो किसी का विचार था कि वे वैकुण्ठ में नहीं, क्षीरसागर में रहते हैं। –"अब इसका निर्णय कैसे हो कि वह कहाँ रहता है ?"

भगवान शंकर भी वहीं थे। लोगों का ध्यान उनकी ओर गया। देवताओं ने उनसे पूछा– "महाराज ! लोग जो कह रहे हैं, उसमें ठीक क्या है ?" भगवान शंकर ने बहुत बढ़िया बात कही। उन्होंने कहा–

जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती।

प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती।।१/१८४/३

"भगवान तो सर्वत्र निवास करते हैं। पर जिन्हें लगता है कि वे क्षीरसागर में रहते हैं, उन्हें वे क्षीरसागर में मिल जाएँगे। और जिसे यह विश्वास है कि 'उनका निवास बैकुण्ठ में है', तो ऐसा व्यक्ति जब बैकुण्ठ जाएगा तो प्रभु उसे वहाँ अवश्य ही मिल जाएँगे।"

देवताओं ने प्रभु की प्रार्थना की और जब आकाशवाणी के माध्यम से ही उन्हें आश्वासन मिल गया, तो उन्होंने भगवान को किसी रूप में देखने–पाने की आवश्यकता नहीं समझी और वे प्रसन्न होकर वापस लौट गए। पर मनुजी शब्द सुनकर ही संतुष्ट नहीं हो गए। वे तो रूप देखने की कामना से ही आए थे, अतः प्रभु उनके सामने प्रगट हो गए। इसका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि–

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।

प्रभु भक्त–वत्सल हैं और अपने भक्तों पर वे अपार कृपा करते हैं।

गोस्वामीजी के ये शब्द बड़े सांकेतिक और महत्वपूर्ण हैं। **'भक्तवत्सल'** कहने के पीछे गोस्वामीजी का तात्पर्य है कि अपने बछड़े को देखकर गाय जैसे पेन्हा जाती है (गांव की भाषा में पेन्हाना गाय के स्तनों में दूध उतर आने को कहते हैं)–

भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।७/११६/११

ठीक उसी तरह भगवान भी अपने भक्तों को देखकर द्रवित हो उठते हैं क्योंकि भक्त उनके बछड़ों की तरह हैं। महाराज मनु के सामने ऐसे भक्तवत्सल भगवान प्रगट हुए। वे कहाँ से आए ? गोस्वामीजी कहते हैं कि–

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।

बिस्वबास **प्रगटे भगवाना।।१/१४५/८**

सारा विश्व ही उनका निवास–स्थल है, वे सर्वत्र निवास करते हैं, अतः भक्त तो उन्हें जहाँ चाहे पा सकता है।

मनु महाराज पहले ही यह कह चुके थे कि 'प्रभु ! मैं जानता हूँ कि स्वरुपतः आप निर्गुण हैं, निराकार हैं पर मैं यह भी जानता हूँ कि–

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।
भगत हेतु लीलातनु गहई।।
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा।
तौ हमार पूजहि अभिलाषा।।१/१४३/७, ८

ऐसा होते हुए भी आप भक्तों के लिए शरीर धारण करते हैं।'

यह बड़े महत्व का सूत्र है। निर्गुण–निराकार ब्रह्म किसी संत के माध्यम से सगुण रूप में व्यक्त हो जाता है। भगवान में अनंत गुण हैं और संत ही उन्हें उन गुणों को, सगुण ब्रह्म के रूप में, प्रगट करने की प्रेरणा देता है। इसलिए भगवान की भक्ति पाने के लिए सर्वप्रथम संतों के संग की आवश्यकता है।

।। बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।।

।। श्री रामः शरणं मम।।

८

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं।।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।।३/३५
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा।।
छठ दम सील बिरति बहु करमा।
निरत निरंतर सज्जन धरमा।।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा।।
आठवँ जथालाभ संतोषा।
सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा।।
नवम सरल सब सन छलहीना।
मम भरोस हियँ हरष न दीना।।
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई।।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।।३/३५/१-७

अनंत कोटि ब्रह्माण्डनायक करुणावारिधि भगवान राम एवं अनंत

वात्सल्य और करुणामयी जगज्जननी श्री सीताजी की महती अनुकंपा से यह 'मानस–प्रवचन'–क्रम विगत अनेक वर्षों से अनवरत रूप से सम्पन्न होता चला आ रहा है। भगवान लक्ष्मीनारायण के इस पावन प्रांगण में आप सब जिस भक्तिभावना और एकाग्रता से कथा–श्रवण करते हैं, वह किसी भी वक्ता को प्रेरणा देने वाली है। इसके लिए मैं आप सब की श्रद्धाभावना की प्रशंसा करता हूँ तथा आप सबका आभारी हूँ।

कथासत्र के प्रथम दिन कविहृदय श्री जाजूजी ने 'मानस' के संबंध में अपने विचार प्रगट करते हुए, उससे मुझे जोड़कर मेरे प्रति जिन शब्दों में श्रद्धावली व्यक्त की, रामकथा से संबद्ध किसी भी व्यक्ति के लिए यह सौभाग्य प्राप्त करना स्वाभाविक ही है। यही रामकथा की विशिष्टता है।

इस आयोजन के पीछे 'बिरला अकादमी आफ आर्ट एण्ड कल्चर' की अध्यक्षा श्रीमती सरलाजी बिरला तथा श्री बसंतकुमार जी बिरला की श्रद्धा भावना ही विद्यमान रहती है। लोगों को यह जानकर बड़ा आश्चर्य होता है कि इतने बड़े उद्योगपति इतने दिनों तक एक स्थान पर रहकर कथाश्रवण करते हैं ! सचमुच, इन दंपत्ति की श्रद्धा–भक्ति की भावना अत्यन्त श्लाघनीय है। यह परिवार अनेकानेक माध्यमों से प्रभु सेवा मानकर ही समाज–सेवा में रत है। इन दंपत्ति का चित्रकला, साहित्य व संगीत आदि में जो सुरुचिपूर्ण लगाव है, वह भी प्रशंसनीय है। निसंदेह यह प्रभुकृपा का ही परिणाम है। मैं इनके प्रति मंगलकामना करता हूँ। आइए, नवधाभक्ति के इस प्रसंग पर संक्षेप में एक दृष्टि डालने का प्रयास करें।

प्रभु के द्वारा जिस नवधाभक्ति का निरूपण होता है उसमें दो बातें दिखाई देती हैं। एक तो यह कि इसमें क्रमिक रूप से नौ भक्तियों का वर्णन किया गया है। तथा दूसरी दृष्टि से प्रभु यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि इनमें से प्रत्येक भक्ति स्वतंत्र है तथा इनमें से एक भी भक्ति जिसमें विद्यमान हो, वह उन्हें अत्यन्त प्रिय है।

प्रथम भक्ति के रूप में सत्संग का निरूपण करने के बाद प्रभु दूसरी

भक्ति का निरूपण करते हुए कहते हैं कि–

दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।

'कथा–श्रवण' में रति मेरी दूसरी भक्ति है। 'मानस' की भूमिका में जो वर्णन आता है उससे ज्ञात होता है कि गोस्वामीजी रामकथा के प्रकाशन के लिए रामजन्म के अवसर का ही चुनाव करते हैं। गोस्वामीजी के द्वारा रामकथा की रचना पहले ही हो चुकी थी, जिसे उन्होंने अयोध्याजी में भगवान राम के जन्मदिन के पावन पर्व पर संतों के समक्ष प्रकाशित किया और राम–जन्म के दिन पहली बार संतों ने इसका श्रवण किया। इस प्रकार रामनवमी प्रभु की कथा का भी जन्मदिन है।

भगवान की कथा अनेकानेक रूपों में अनेकानेक व्यक्तियों के द्वारा कही जाती है। बहुत बड़ी संख्या में लोग इन्हें सुनते भी हैं। पर कथा का जो फल बताया गया है, महिमा बताई गई है, उस रूप में न तो प्रभाव दिखाई देता है और न ही वह परिणाम ही दिखाई देता है। इसके कारण पर विचार करने से नवधा भक्ति में 'सत्संग' के बाद 'कथा–प्रसंग' कहने का जो तात्पर्य है, वह स्पष्ट हो जाता है।

गोस्वामीजी यह बताना चाहते हैं कि 'वस्तुतः कथा किसके माध्यम से सुननी चाहिए ? तथा श्रोता में क्या विशेषता होनी चाहिए?' ये दोनों बातें बड़े महत्त्व की हैं। 'सत्संग और हरिकथा में क्या संबंध है' इसे बताते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान के जैसे अनंत रूप हैं, उसी प्रकार भगवान की कथाएं भी अनंत हैं।

हरि अनंत हरिकथा अनंता।
कहहिं सुनहिं बहुबिधि सब संता।।१/१३६/५

और संतगण विविध रूपों में इनका गायन करते हैं जिसे श्रवणकर व्यक्ति भगवान की भक्ति प्राप्त कर धन्य हो जाता है।

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग।।७/६१

गोस्वामीजी जब यह कहते हैं कि रामकथा विविध रूपों में कही

जाती है, उसके अनंत रूप हैं, तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि रामकथा मनमाने रूप से कही जा सकती है। वे बताना चाहते हैं कि मनमाने रूप में नहीं, अपितु संतों के द्वारा विविध रूपों में कही जाने वाली भगवत्कथा ही कल्याणकारी है। संत ही इस कथा के अधिकारी हैं। इसी बात का संकेत करने के लिए 'मानस' में कथा के दो भिन्न रूपों को सामने रखा गया है।

घटनाओं के रूप में भगवान राम की गाथा को दुहरा देना ही कथा नहीं है। सबसे महत्वपूर्ण बात है कि रामकथा कहने का उद्देश्य क्या है? और इसलिए यह प्रश्न भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि रामकथा किसके माध्यम से कही जा रही है? कालनेमि भी रामकथा सुनाता है और हनुमानजी जैसे सर्वश्रेष्ठ कथावाचक को सुनाता है। पर इसके पीछे उसका उद्देश्य अच्छा नहीं है। संत के माध्यम से कही जाने वाली रामकथा का उद्देश्य और परिणाम दोनों ही मंगलप्रद होते हैं।

हनुमानजी रामकथा के अद्वितीय वक्ता और श्रोता दोनों ही हैं। हनुमानजी बलवान हैं, बुद्धिमान हैं पर वे मानते हैं कि जीव का कल्याण जिस माध्यम से हो सकता है वह तो श्रीरामकथा ही है। हनुमानजी 'मानस' में कथावाचक के रूप में विविध प्रसंगों में दिखाई देते हैं। प्रारंभ से ही, जब भगवान राम से उनका किष्किन्धा में मिलन होता है, उनका दर्शन इसी रूप में होता है।

वर्णन आता है कि सुग्रीव बालि के डर से ऋष्यमूक पर्वत पर हनुमानजी के साथ रहते हैं। बालि शाप के कारण इस पर्वत पर नहीं आ सकता। बालि यद्यपि अत्यन्त बलशाली है पर उसकी वृत्ति ऐसी है कि उसकी यह विशेषता उसके लिए अभिशाप का कारण बन जाती है। बालि को मुनियों ने जो शाप दिया उसके पीछे जो कारण है वह बड़ा सांकेतिक है।

बालि ने दुंदुभि नाम के राक्षस का वध किया, पर उसे इस राक्षस के विनाश कर देने से ही संतोष नहीं हो गया। उसने सोचा कि यह बात ऋषि–मुनियों को भी तो ज्ञात होनी चाहिए कि 'बालि कितना बलशाली है और उसने कितना महान कार्य किया है।' इसके लिए उसने एक विचित्र कार्य किया। उसने दुंदुभि को मारकर उस पर्वत पर फेंक दिया जिस पर ऋषि–मुनि साधना–तपस्या किया करते थे। शव के रक्त–मज्जा व हड्डियों के अंश उन आश्रमों में बिखर गए, जिससे वे सब आश्रम अपवित्र हो गए। बालि के इस वीभत्स कार्य से रुष्ट होकर मुनियों ने उसे श्राप दे दिया कि यदि बालि उस पर्वत पर आएगा तो उसके सिर के टुकड़े–टुकड़े हो जाएँगे।

बालि में इतना अतुलनीय पराक्रम था कि उसने विश्वविजेता रावण को भी परास्त कर दिया। पर बालि ने अपने इस पराक्रम के प्रदर्शन के लिए रावण को मारने के स्थान पर अपनी बगल में दबा लिया और सबको दिखाता–फिरता रहा कि 'मैं रावण का विजेता हूँ।' बालि की इस वृत्ति के मूल में उसका अभिमान ही कारण है। अभिमानी व्यक्ति बड़ा प्रदर्शन–प्रिय होता है। ऐसा व्यक्ति अच्छा कार्य भी करता है, तो उसके पीछे उसका उद्देश्य केवल प्रदर्शन करना ही होता है।

बालि यदि अभिमान–प्रेरित प्रदर्शन के स्थान पर सचमुच मुनियों की सेवा की दृष्टि से दुंदुभी का वध करता, तो शाप के स्थान पर मुनियों से आशीर्वाद प्राप्त करता। और अपने पराक्रम को सार्थक कर धन्य हो जाता। वह रावण को पराजित कर, प्रमाण पत्र के रूप में काँख में दबाकर घूमने के स्थान पर, यदि उसका वध कर देता तो रावण के अत्याचार से समाज को मुक्त कर देता। सचमुच, यह एक महान कार्य होता। पर बालि का अहं उसे वैसा नहीं करने देता। यही अभिमान उसे विनाश की दिशा में ले जाता है। आगे चलकर भगवान राम से उसका जो संवाद होता है, उसमें यही बात आती है।

भगवान राम का बाण लगने से बालि जब भूमि पर गिर पड़ा, तो प्रभु उसके पास आ गए। भगवान को सामने पाकर बालि ने उनसे पूछ दिया– "आपने मेरा वध क्यों किया?" भगवान राम ने बालि के अभिमान को ही इसका कारण बताते हुए यही कहा कि–

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना।
नारि सिखावन करसि न काना।।४/८/६

'तुम्हारी पत्नी ने तुम्हें सत्य का साक्षात्कार कराने की चेष्टा की पर तुमने अभिमान के कारण उसकी अवहेलना की, उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उल्टे, तुमने उसे ही डरपोक की उपाधि दे दी।' बालि तारा से यही कहता है कि–

कह बाली सुनु भीरु प्रिय,

'तारा! तुम मेरे जैसे निडर योद्धा की पत्नी होकर भी इतनी डरपोक हो?' भगवान राम बालि से कहते हैं कि 'बालि! तुम्हें अपनी पत्नी तारा की बात सुननी चाहिए थी! निडर हो जाना ही सबसे बड़ा गुण है क्या?'

यद्यपि यह कहा गया है कि **'निर्भयं सत्व संशुद्धि'**, पर व्यक्ति के जीवन में भय की भी आवश्यकता है। **ईश्वर का भय ही सच्चे अर्थों में व्यक्ति को निर्भय बनाता है।** बालि ने अभिमान के कारण तारा की बात नहीं सुनी और मारा गया।

कुछ लोग आज भी यही कहते हैं कि रामायण में नारी जाति की बड़ी उपेक्षा की गई है। पर इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि भगवान राम उन्हें कितना अधिक महत्व देते हैं! बालि और रावण दोनों ही पत्नी के समझाने पर ध्यान देते तो विनाश से बच सकते थे। 'मानस' में नारी पात्रों में कौशल्याजी, सुमित्राजी तथा सीताजी का ही नहीं, शबरजाति की भीलनी शबरीजी, तारा, मंदोदरी तथा त्रिजटा आदि को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं।

भगवान राम ने बालि से कहा कि 'तुमने तारा को डरपोक कहने के साथ–साथ यह भी कहा था कि तुम मुझे जानते हो। पर जब सुग्रीव पर तुमने प्रहार किया और डरकर वह मेरे पास आया, तो क्या तुम्हें वापस नहीं लौट जाना चाहिए था?' पर तुम लौटने के स्थान पर वहीं खड़े रहे! तुम क्या उस समय यही सोचकर वहाँ नहीं खड़े थे कि 'जिसको इन्होंने भेजा था उस सुग्रीव को तो मैंने देख लिया, अब देखता हूँ, भेजने वाला क्या करता है?'

प्रभु कहते हैं– 'बालि! तुम्हें अच्छी तरह से ज्ञात था कि मैं सुग्रीव

के साथ हूँ फिर भी–

मम भुज बल आश्रित तेहि जानी।
मारा चहसि अधम अभिमानी।।४/८/१०

तुम तो अभिमान में अंधे हो रहे थे और जान बूझकर भी इस सत्य को देखना नहीं चाहते थे।" बालि की सबसे बड़ी समस्या उसका अभिमान ही है। यह अभिमान ही बालि को ईश्वर से दूर कर देता है। प्रभु उसके अभिमान को मिटाने के लिए ही उस पर प्रहार करते हैं।

सुग्रीव के पास भी भगवान को पहिचानने वाली दृष्टि नहीं है, पर उसमें और बालि में एक अंतर है जो बड़े महत्व का है। सुग्रीव भगवान राम और लक्ष्मणजी को ऋष्यमूक की ओर आते हुए दूर से तो देख लेते हैं, पर वे उन्हें पहिचान नहीं पाते। सुग्रीव की ही नहीं, अधिकांश जीवों की भी यही समस्या है।

यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि भगवान को पहिचानने की दृष्टि व्यक्ति के पास है या नहीं? भगवान तो अनेकानेक रूपों में हमारे सामने आते ही रहते हैं। पर यदि हमारे पास यह दृष्टि न हो तो हम उन्हें कैसे पहिचान पाएँगे? ऐसी स्थिति में भगवान राम को देखकर जो स्थिति सुग्रीव की हुई, वहीं हमारी भी हो सकती है।

भगवान राम तो शबरीजी के इस कथन को स्वीकार कर, जिसमें उन्होंने कहा था कि–

पंपा सरहि जाहु रघुराई।
जहँ होइहि सुग्रीव मिताई।।३/३५/११

सुग्रीव से मित्रता करने के लिए पंपासर आ रहे हैं, पर सुग्रीव को लगता है कि–

पठए बालि होइ मन मैला।४/०/५

'ये दोनों राजकुमार बालि के द्वारा भेजे गए हैं और मुझे मारने के लिए आ रहे हैं।' इस प्रकार सुग्रीव के पास उस दृष्टि का अभाव है जो भगवान को पहिचान ले। पर अनेकानेक दुर्बलताओं के होने पर भी सुग्रीव

में एक महान गुण विद्यमान है। उसे अपनी दृष्टि पर विश्वास न होकर हनुमानजी जैसे महान संत की दृष्टि पर भरोसा है। इसलिए सुग्रीवजी हनुमानजी से कहते हैं कि–

धरि बटु रूप देखु तैं जाई।
कहेसि मोहि जियँ सयन बुझाई।।४/०/४

'आप ब्राह्मण का वेष बनाकर जाइए और पता लगाइए कि वे कौन हैं। और यदि यह लगे कि बालि ने उन्हें भेजा है, तो आप वहीं से मुझे इसका संकेत कर दें !' हनुमानजी ने जानना चाहा– "यदि ऐसा हो तो आप क्या करेंगे ?" सुग्रीव ने कहा– "वही जो मैं आज तक करता रहा हूँ।

भागौं तुरत तजौं यह सैला।।४/०/५

इस पर्वत को भी छोड़कर कहीं और भाग जाऊँगा !" हनुमानजी गए और प्रभु से मिलने के बाद उन्होंने एक विशिष्ट ढंग से सुग्रीवजी को संकेत किया।

हनुमानजी ने भगवान राम और लक्ष्मणजी से कहा कि आप दोनों मेरी पीठ पर बैठकर सुग्रीवजी के पास चलें और दोनों को अपनी पीठ पर बैठा लिया। यह कार्य थोड़ा विचित्र–सा लगता है। हनुमानजी ने पीठ पर ही क्यों चढ़ा लिया ? वस्तुतः हनुमानजी ने इसी विधि से सुग्रीवजी को एक बड़ा सुंदर संकेत दिया।

संसार में किसी कमज़ोर व्यक्ति को किसी बड़े और समर्थ व्यक्ति का आश्रय प्राप्त होने पर यही कहा जाता है कि 'इसके पृष्ठपोषक तो बहुत बड़े व्यक्ति हैं।' **'पृष्ठपोषक'** शब्द का जो अर्थ है वह प्रतीकात्मक है। 'पृष्ठभाग' अर्थात् पीठ का हिस्सा ऐसा है कि जिसे व्यक्ति देख नहीं पाता। ऐसी स्थिति में, सामने की दिशा से आक्रमण होने में तो व्यक्ति अपनी रक्षा का प्रयास कर सकता है, पर पीठ की ओर से आक्रमण होने पर वह अपना बचाव नहीं कर पाता। अब, कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति मिल जाए जो पीठ के पीछे खड़ा हो जाए और व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करे, तो ऐसा व्यक्ति 'पृष्ठपोषक' कहा जाएगा।

संसार में बहुत से व्यक्तियों को पृष्ठपोषक मिल जाते हैं। पर इसमें भी एक समस्या है। संसार में जितने पृष्ठपोषक होते हैं, उन्हें भी पृष्ठपोषक की आवश्यकता होती है। इस प्रकार एक के पीछे एक करते–करते एक बहुत लंबी कतार ही बन जाएगी। इसका अर्थ तो यही है कि संसार में व्यक्ति के रूप में पृष्ठपोषक मिल जाने पर भी पूरी सुरक्षा मिल ही जाए यह संभव नहीं है। इसीलिए हनुमानजी ने भगवान राम को पीठ पर बैठाकर सुग्रीवजी को मानो यह संकेत दिया कि 'सुग्रीव ! मैं ऐसा पृष्ठपोषक ला रहा हूँ जो आपको पूरी तरह निर्भय बना देगा। अब, आपको किसी तरह की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।'

हनुमानजी भगवान राम से निवेदन करते हैं–

नाथ सैल पर कपिपति रहई।
सो सुग्रीव दास तव अहई।।
तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।
दीन जानि तेहि अभय करीजे।।
सो सीता कर खोज कराइहि।
जहँ तहँ मर्कट कोटि पठाइहि।।
एहि बिधि सकल कथा समुझाई।४/३/२-५

और पूरी बात सुनने के बाद हनुमानजी–

लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई।।४/३/५

लक्ष्मणजी सहित उन्हें अपनी पीठ पर बैठा लेते हैं। हनुमानजी भगवान राम को भी कथा सुना देते हैं और ऐसी व्याख्या करते हुए समझाते हैं कि भगवान राम बिना किसी 'नु–नच' के उनकी सब बातें मान लेते हैं।

भगवान राम कह सकते थे– "हनुमान ! तुम सुग्रीव को ही ऐसा संकेत क्यों नहीं कर देते कि वे ही यहाँ आकर मुझसे भेंट कर लें ?" पर हनुमानजी कथा सुनाते हुए प्रभु से कह देते हैं– "प्रभु ! वहाँ तो आपको ही चलना होगा !"

–"क्यों चलना होगा ?" प्रभु पूछ सकते थे। इसलिए हनुमानजी पहले ही कह देते हैं कि 'प्रभु ! रोगी यदि चलने योग्य हो तब न वह डाक्टर या वैद्य के पास जाएगा। पर यदि वह चलने में असमर्थ हो तो फिर वैद्य को ही रोगी के पास जाना पड़ेगा। बेचारे सुग्रीव भागते–भागते इतना थक गए हैं कि वे यहाँ आपके पास नहीं आ सकते, अतः आप ही वहाँ चलिए।'

कथा का अर्थ मात्र घटनाओं का वर्णन नहीं है। एक कवि की व्यंग्यात्मक तुकबंदी आपने सुनी ही होगी। 'मानस' ग्रन्थ की विशालता को देखकर उन्होंने सोचा– 'यह तुलसीदास को क्या हो गया ? दो चार वाक्यों में कही जाने वाली घटना पर इतना बड़ा ग्रन्थ लिख दिया!' वे कहने लगे कि–

एक राम एक रावन्ना।
एक छत्री एक बाम्हन्ना।।
उनने इनकी नारि चुराई।
उनसे इनकी भई लड़ाई।।
तनिक बात की बातन्ना।
तुलसी लिख गए पोथन्ना।।

अब, इसके लिए इतना कुछ लिखने की क्या आवश्यकता थी?' पर कथा के विषय में यह दृष्टि ठीक नहीं है। 'कथा' घटनाओं का वर्णन न होकर यह बताती है कि उनका रहस्य क्या है ? **कथा का उद्देश्य है 'जीव को भगवान से मिलाना। आवश्यकता हो तो जीव को भगवान के निकट पहुँचाना। और उससे भी बड़ी बात है भगवान को ही जीव के पास ले जाना।'** हनुमानजी भगवान को कथा सुनाते हैं और सुग्रीव के पास ले जाते हैं, और वहाँ भी–

तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाई।।४/४

कथा सुनाते हैं और जीव की भगवान से मित्रता कराते हैं। पर

कथाक्रम यही समाप्त नहीं हो जाता। आगे चलकर, जब सुग्रीव राज्य पाकर भोगों में डूब जाते हैं तो हनुमानजी उनके पास जाकर उन्हें फिर से कथा सुनाते हैं।

हनुमानजी ने पहले कथा सुनाकर सुग्रीवजी का भय दूर किया था, पर अब वे कथा सुनाकर उनमें भय उत्पन्न कर देते हैं। हनुमानजी सुग्रीवजी के पास जाते हैं और उनसे प्रश्न करते हुए कहते हैं कि 'आपने ध्यान दिया कि बालि का वध करने के बाद भगवान राम का बाण कहाँ गया ?' सुग्रीवजी ने कहा कि 'वह बाण तो भगवान के तरकस में ही लौट आया !' यह तो भगवान के बाण का स्वभाव है कि वह प्रभु के पास लौट आता है। इसकी बड़ी गंभीर व्याख्या है, पर हनुमानजी ने इसे एक नया अर्थ दे दिया जो बड़े महत्व का है।

हनुमानजी कह सकते थे कि 'प्रभु बड़े उदार हैं, जिसे किसी कार्य के लिए भेजते हैं, उसे पुनः अपने पास वापस बुला लेते हैं और उसे उसका स्थान प्रदान करते हैं।' यह व्याख्या भी ठीक होती, पर वे ऐसा नहीं कहते। हनुमानजी कहते हैं कि 'प्रभु ने उस बाण को बालि के हृदय में न छोड़कर, अपने तरकस में एक विशेष प्रयोजन से वापस बुलाकर रख लिया था! आप अब क्या सोचते हैं कि प्रभु ने ऐसा क्यों किया होगा? सुग्रीव ने हनुमानजी से पूछ दिया– "आपको क्या लगता है ?" हनुमानजी ने कहा– "मुझे तो ऐसा लगता है कि आपको मारने के लिए ही प्रभु ने ऐसा किया है। प्रभु को लगा होगा कि यदि सुग्रीव ने भी वही गड़बड़ी की जैसी बालि ने की थी, तो उसको भी मैं उसी बाण से मार दूँगा।" सचमुच भगवान राम लक्ष्मणजी से ठीक यही बात कह चुके थे। उन्होंने कहा था– "लक्ष्मण!

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली।।४/१७/५

सुग्रीव भी उसी बाण से मारा जाएगा।" पर प्रभु ने ऐसा नहीं किया। बाद में लक्ष्मणजी ने प्रभु से पूछ दिया– "महाराज ! आपने सुग्रीव

का वध क्यों नहीं किया ?" प्रभु बोले– "लक्ष्मण ! मुझे उस बाण को चलाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। क्योंकि मैं बाण चलाता इससे पहले ही हनुमानजी ने कथा के माध्यम से ऐसा बाण चलाया कि जिस उद्देश्य से मैं बाण चलाना चाहता था, वह पूरा हो गया। जब समस्या का समाधान हो गया तो फिर ऐसा करना क्या उचित होता ?" हनुमानजी ऐसी अद्भुत कथा कहते हैं।

हनुमानजी आवश्यकतानुसार ऐसी कथा कहते हैं जो जीव को भय से मुक्त करती है, और यदि आवश्यकता हो तो जीव के कल्याण के लिए उसे भय भी प्रदान करती है। कथा बताती है कि संसार में किसी के डर से भयभीत न होकर निरंतर भगवान से डरते रहना चाहिए। हनुमानजी अतुलित बलशाली हैं। उनके पास गदा है, मुद्गर है और उनकी मुष्ठिका तथा पूँछ में बड़ी शक्ति है, पर उनके जीवन में इन सबका उतना प्रयोग नहीं है, जितना कथा का है। वे जब किसी से मिलते हैं तो उनका प्रयास यही रहता है कि प्रभु की कथा ही कही–सुनी जाए। संतों के संग का यही लक्षण भी है और लाभ भी है। **संत अपनी कथा कहने-सुनने के स्थान पर भगवान की कथा का ही निरंतर श्रवण और गायन करते हैं।**

हनुमानजी लंका में विभीषणजी से मिले तो विभीषणजी गद्‌गद हो गए और कहने लगे– "आप भगवान राम के दास हैं या कहीं स्वयं श्रीराम ही तो नहीं हैं ? अतः आप कृपा कर मुझे अपने विषय में बताएँ, अपना परिचय दें !" उस समय हनुमानजी ने किसका परिचय दिया? विभीषणजी ने तो अपनी कथा सुनाने के लिए कहा था पर–

तब हनुमंत कही सब रामकथा,

हनुमानजी ने पूरी रामकथा सुना दी। यही संतों का कार्य है। रामकथा के नाम पर अपनी कथा सुनाने वाला असली कथावाचक नहीं है, अपनी गाथा के स्थान पर जो निरंतर हृदय से भगवान राम की कथा कहता है वही संत कथावाचक है, श्रेष्ठ कथावाचक है। रामकथा के माध्यम से अपने अहं की व्याख्या करना रामकथा नहीं है। विभीषण जी पूछ रहे हैं– "महाराज ! अपनी कथा सुनाइए !" पर हनुमानजी कहते हैं– "विभीषणजी ! कथा तो एकमात्र भगवान की ही होती है, जीव के पास तो बस व्यथा ही होती है।" हनुमानजी ने प्रभु की कथा सुनाई और उसका बड़ा सुखद परिणाम निकला। गोस्वामीजी कहते हैं कि–

तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम।।५/६

श्रोता और वक्ता दोनों ही आनंद में डूब गए, और–

एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा।
पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा।।५/७/२

दोनों को ही विश्राम की प्राप्ति हो गई। इसका एक और सुखद परिणाम भी सामने आ गया।

विभीषणजी के मन में, हनुमानजी से मिलने के पूर्व, निरंतर एक भ्रम और अंतर्द्वन्द्व बना रहता था। भगवान राम के प्रति उनके मन में अनुराग था पर वे अपने आपको रावण का छोटा भाई मानकर, छोटे भाई के कर्तव्य के नाते यह निर्णय करने में असमर्थ थे कि वे किसकी सेवा में अपने आपको पूर्ण रूप से समर्पित करें ? 'प्रभु–प्रेम' और बड़े भाई के प्रति 'कर्त्तव्य–दायित्व' में से किसका पालन करें और किसे छोड़ें? इसका निर्णय वे नहीं कर पा रहे थे। पर हनुमानजी की कथा सुनकर उनका भ्रम पूरी तरह दूर हो गया।

हनुमानजी ने कहा– "विभीषण ! नाते–रिश्ते के संदर्भ में उनका निर्णय भगवान से ही जोड़कर करना चाहिए। क्योंकि असली नाता तो भगवान के नाते से ही होता है। हनुमानजी ने कहा–

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।
देखी चहउँ जानकी माता।।५/७/४

"विभीषणजी ! आपका एक भाई तो रावण है तथा दूसरा भाई मैं हूँ। अब आपको चुनना है कि आप किसका साथ देना चाहते हैं !" विभीषणजी सोचने लगे कि हनुमानजी के साथ भाई का नाता कैसे जुड़

सकता है ? हनुमानजी उनके मन की बात समझ गए और उनकी दृष्टि उस परम् सत्य की ओर परिवर्तित करते हुए बोले– "विभीषणजी ! संसार के संबंधों की दृष्टि से रावण आपका भाई है, यह ठीक है, पर यदि आप जगज्जननी श्रीसीताजी को अपनी मां मानते हैं, तो इस नाते से हम दोनों ही उनके पुत्र हैं, और दोनों सगे भाई हैं।"

हनुमानजी विभीषणजी को असली संबंध और संबंधी का स्मरण दिलाते हुए बताते हैं कि 'जीव संसार के संबंधों को महत्व देने के कारण अपने असली संबंधी को भूल जाता है। जीव का ईश्वर से संबंध तो अनादिकाल से ही है।' गोस्वामीजी 'मानस' में यही कहते हैं कि–

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सो माया बस भयउ गोसाईं।
बँध्यो कीर मरकट की नाईं।।७/११६/२, ३

जीव अज्ञान के कारण संसार के संबंधों में बँधकर दुख पा रहा है। ये संबंध तो हरेक जन्म में बदलते रहते हैं, अतः इनको धर्म मान लेना ठीक नहीं है।' हनुमानजी से यदि ऐसा संकेत विभीषणजी को न मिलता, तो संभवतः वे न तो रावण का परित्याग ही कर पाते और न ही भगवान की शरणागति की ओर उन्मुख हो पाते।

हनुमानजी ने कथा सुनाई तो विभीषणजी सोचने लगे– बड़े अनोखे संत मिल गए हैं, अब इनका नाम भी तो जानना चाहिए।' इसलिए उन्होंने पूछ दिया– "कृपा करके आप कम से कम अपना नाम तो बता दीजिए।"

–"हाँ ! हाँ ! मैं अपना नाम बताता हूँ, पर साथ ही मेरे नाम लेने का फल भी बता देता हूँ।

प्रात लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा।।५/६/८

प्रातःकाल यदि कोई मेरा नाम ले ले तो उसे दिन भर भोजन ही

नहीं मिल पाता।" क्या सचमुच हनुमानजी का नाम लेने से दिनभर भोजन नहीं मिलता है ? ऐसी बात नहीं है। उस दिन संभवतः और अच्छा भोजन मिल सकता है। वस्तुतः वे नहीं चाहते कि कोई उनके नाम का स्मरण करे। वे तो चाहते हैं कि सब सदैव प्रभु के नाम–स्मरण में ही निमग्न रहें। इसलिए वे कथा तो प्रभु की कहते हैं और–

तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम।५/६

अपना नाम भी बताते हैं तो श्रोता को सावधान कर देते हैं कि 'मेरा नहीं, लेने योग्य तो एकमात्र प्रभु का ही नाम है।' यह है हनुमानजी का संतत्व। संत वही है जो हमारे जीवन में भगवान के प्रति अनुराग पैदा करे और भगवान के गुणों की महिमा को हमारे जीवन में प्रतिष्ठित करे। हनुमानजी सर्वत्र यही कार्य संपन्न करते हैं। हनुमानजी लंका में विभीषणजी को ही नहीं जगज्जननी श्री सीताजी को भी रामकथा सुनाते हैं।

सीताजी अत्यन्त निराशा की स्थिति में राक्षसियों से घिरी बैठी हुई हैं। वे दुख और व्याकुलता की सीमा तक पहुँच चुकी हैं। ऐसी स्थिति में हनुमानजी उन्हें धीरज प्रदान करते हैं। और इसके लिए वे रामकथा का ही आश्रय लेते हैं। पर उस समय वे कहाँ पर बैठकर कथा सुना रहे थे ? गोस्वामीजी बताते हैं कि–

तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई।५/८/१

हनुमानजी वृक्ष के पत्तों की आड़ में छिपकर पूरी कथा सुनाते हैं। यही संत कथावाचक की व्याख्या है। जो अपने आप को छिपाए और राम को प्रगट करे वही संत है। और यदि राम को छिपाकर अपने आपको दिखाने की चेष्टा करे, तो वह असंत है। 'दिखाने' का यह अर्थ नहीं है कि वक्ता बिल्कुल दिखाई ही न दे, सामने ही न आए ! इसका अर्थ यही है उसके दर्शन से, उसकी वाणी–सुनकर श्रोता को निरंतर भगवान का ही स्मरण होता रहे।

सीताजी तो इतना निराश थीं कि वे त्रिजटा से अनुरोध करते हुए यही कहती हैं कि–

आनि काठ रचु चिता बनाई।
मातु अनल पुनि देहि लगाई।।५/११/३

'आप अग्नि प्रज्वलित कर दें कि जिससे मैं शरीर का परित्याग कर सकूँ !' ऐसी स्थितियाँ भी जीवन में आती हैं। आत्महत्या की जो घटनाएँ होती हैं उनके पीछे व्यक्ति की निराशा ही होती है। पर उस निराशा में भी रामकथा आशा का संदेश देती है। संत रामकथा के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में जो निराशा का भाव होता है उसे दूर कर देते हैं। हनुमानजी भी यही कार्य करते हैं। वे–

रामचंद्र गुन बरनैं लागा।।५/१२/५

सीताजी को रामकथा सुनाते हैं और ऐसी सुंदर कथा सुनाते हैं कि–

सुनतहिं सीता कर दुख भागा।।५/१२/५

उसे सुनकर सीताजी का दुख दूर भागने लगता है। दुख ने सोचा– 'हनुमानजी कथा सुना रहे हैं तो भागना ही ठीक है। ये बहुत बड़े योद्धा हैं, कहीं मार ही न डालें !' पर हनुमानजी ने जब दुख को भागते हुए देखा तो उससे कहा– "तुम भागो मत ! तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं है।"

–"महाराज ! नहीं भागूंगा तो आप नष्ट नहीं कर देंगे ?"

–"नहीं, नहीं ! तुम मेरे साथ चलो !"

हनुमानजी उसे लेकर प्रभु के पास पहुँच गए और उस दुख की कथा भगवान राम को सुनाने लगे। और ऐसी कथा सुनाई कि भगवान राम की आँखों में आंसू आ गए। हनुमानजी ऐसी कथा सुनाते हैं जो जीव में आनंद भर दे और भगवान को रुला दे। भगवान राम ने पूछ दिया– "हनुमान ! सीताजी इतनी विपत्ति में हैं ? तुम मुझे जरा और विस्तार से बताओ !"

हनुमानजी ऐसे श्रेष्ठ कथावाचक हैं जो चुन–चुनकर शब्दों का प्रयोग करते हैं। उन्होंने कहा–

सीता कै अति बिपति बिसाला।।५/३०/६

प्रभु ! सीताजी की जो विपत्ति है वह '**अति विशाल**' है। अब 'विशाल' शब्द ही क्या दुख के परिमाण को बताने के लिए पर्याप्त नहीं है ? 'विशाल' शब्द के साथ 'अति' शब्द को जोड़ना क्या कुछ अतिशयोक्ति–जैसा नहीं लगता ? पर हनुमानजी के द्वारा प्रयुक्त यह शब्द बिलकुल निरर्थक नहीं है। अपितु हनुमानजी इसके द्वारा एक बहुत बड़ी बात कह देते हैं।

हनुमानजी ने कहा– "प्रभु आजतक जब मैं लोगों को कथा सुनाता था तो यही कहता था कि आपकी भुजाएं विशाल हैं और विपत्ति कहीं भी क्यों न हो–

विशाल भुजा गहि काढ़ि लेवैया।

आपकी भुजाएँ वहाँ पहुँच जाती हैं और विपत्ति को पकड़कर निकाल बाहर कर देती हैं। लेकिन सीताजी को देखकर लगा कि उनकी विपत्ति 'अति विशाल' है।" –"कैसे ?" प्रभु ने पूछा।–"प्रभु ! आपकी भुजाएँ वहाँ अब तक नहीं पहुँच पाईं, तो इससे तो सिद्ध हो गया कि वह विपत्ति ही विशाल है।" और उन्होंने अगला वाक्य जो कहा उसमें उलाहना भी है, अधिकार भी है और निमंत्रण भी है। उन्होंने कहा–

सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहिं कहें भल दीन दयाला।।५/३०/६

"हे दीनदयाल ! सीताजी की विपत्ति का वर्णन न करना ही अच्छा है। प्रभु ! आप जरा स्वयं सोचिए ! आपको हम लोग 'दीनदयाल' कहते हैं। आपकी दीनदयालुता की गाथा गाते हैं। अब, आप ही कह रहे हैं कि मैं आपको सीताजी की विपत्ति सुनाऊँ ! जब मैं सीताजी की विपत्ति–गाथा आपको सुनाऊँगा तो सारे के सारे बंदर भी सुनेंगे। सुनकर क्या वे यह नहीं सोचेंगे कि 'ये कैसे दीनदयाल हैं जो सीताजी की दीनता को नहीं मिटा पा रहे हैं ?' महाराज ! ऐसा करने से आपकी महिमा समाप्त हो जाएगी और आपकी दीनदयालुता पर लोगों का विश्वास ही नहीं रह जाएगा।"

हनुमानजी अपने साथ जो दुख लेकर आए थे उसका उन्होंने कितना सुंदर उपयोग किया! उन्होंने पूरा का पूरा दुख प्रभु के भीतर पैठा दिया। गोस्वामीजी कहते हैं कि–

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना।
भरि आए जल राजिव नयना।।५/३१/१

भगवान राम व्याकुल हो गए, रोने लगे।

भगवान आनंदमय हैं और हमारे अंतःकरण में दुख ही दुख भरे हुए हैं। संत की कथा का उद्देश्य यही होता है कि ये स्थितियाँ परस्पर बदल जाएँ। भगवान में करुणा उत्पन्न हो जाए, वे व्याकुल हो जाएँ और जीव सुखी हो जाए, आनंदित हो जाए।

भगवान राम पर इस कथा का ऐसा अद्भुत प्रभाव पड़ा कि तुरंत उन्होंने सुग्रीवजी ओर देखा और बोले–

अब बिलंबु केहि कारन कीजे।
तुरत कपिन्ह कहुँ आयसु दीजे।।५/३३/७

संत के माध्यम से जो रामकथा कही जाती है वह जीवों को निर्भय बनाती है, पर भगवान से भय करना सिखाती है। रामकथा हमें भगवान से मिलाती है, हमारे दुख और विषाद दूर करती है तथा भगवान की महिमा को हमारे जीवन में प्रतिष्ठित करती है। यह है कथा का सच्चा स्वरूप जिसका गायन संतगण विविध रूपों में करते हैं। परन्तु रामकथा का एक और रूप भी सामने आता है जो कालनेमि के जीवन में दिखाई देता है।

लंका के रणांगण में लक्ष्मणजी मूर्छित हो जाते हैं। उनके उपचार हेतु दवा लेने के लिए हनुमानजी को भेजा जाता है। मार्ग में हनुमानजी को प्यास लग जाती है। एक आश्रम दिखाई देने पर, वे प्यास बुझाने की दृष्टि से वहाँ जाते हैं। उसमें उन्हें एक महात्मा दिखाई देते हैं। आश्रम और महात्मा दोनों ही हनुमानजी को अच्छे लगे। वे महात्माजी को प्रणाम करते हैं। वह महात्मा–वेशधारी व्यक्ति सचमुच कोई महात्मा न होकर,

कालनेमि राक्षस था जिसे रावण ने भेजा था। कालनेमि ने हनुमानजी के विषय में सुन रखा था कि वे रामकथा के बड़े प्रेमी हैं। हनुमानजी को सामने देखकर कालनेमि उनको कथा सुनाने लगता है।

कालनेमि के द्वारा कही जाने वाली रामकथा असंत के द्वारा कही जाने वाली कथा है जिसका उद्देश्य संत के द्वारा सुनाई जाने वाली रामकथा से सर्वथा भिन्न है।

कालनेमि ने हनुमानजी से कहा– "देखो बंदर! लंका में इस समय रावण और राम के बीच बहुत बड़ा युद्ध हो रहा है। मैं अपनी दूरदृष्टि से यहाँ बैठकर भी वह सब देख पा रहा हूँ।

होत महा रन रावन रामहिं।

और मैं जो भविष्य में होने वाला है, उसे भी तुम्हें बताना चाहता हूँ कि इस युद्ध में राम की ही विजय होगी।

जितिहहिं राम न संसय या महिं।।६/५६/५

कालनेमि की कथा के पीछे वह उद्देश्य बिलकुल नहीं है जो संत की रामकथा का होता है। कालनेमि अपने चमत्कार का ही प्रचार–प्रसार करना चाहता है। इतना कहने के बाद वह अपने मुँह से, अपने ही बारे में यह कहने से भी नहीं चूकता कि–

इहाँ भए मैं देखउँ भाई।
ग्यानदृष्टि बल मोहि अधिकाई।।६/५६/६

'मैं दूर तक ही नहीं, भविष्य को भी देख लेता हूँ, ऐसी ज्ञानदृष्टि मेरे पास है।' कालनेमि आगे हनुमानजी से कहता है कि 'मैं चाहता हूँ कि ऐसा ज्ञान और ऐसी दिव्य दृष्टि तुम्हें भी प्राप्त हो जाए। बस तुम–

सर मज्जन करि आतुर आवहु।
दिच्छा देउँ ग्यान जेहि पावहु।।६/५६/८

स्नान करके आ जाओ तो मैं तुम्हें दीक्षा दे दूँगा जिससे तुम्हें भी यह दृष्टि मिल जाएगी।

कालनेमि की कथा का उद्देश्य क्या है ? वह चाहता है कि हनुमानजी को इतना विलंब हो जाए कि जिससे समय रहते लक्ष्मणजी को दवा न मिल पाने से उनकी मृत्यु हो जाए, जिससे युद्ध में रावण विजयी हो जाए। मोह की विजय और वैराग्य का विनाश जिस रामकथा का उद्देश्य हो, वह क्या सच्ची रामकथा है ? संतों के द्वारा जो रामकथा कही जाती है वह तो पवित्र उद्देश्य वाली होती है। इसीलिए संत ही रामकथा के सच्चे अधिकारी हैं।

हनुमानजी प्यासे थे और कथा सुनने पर भी उनकी प्यास नहीं बुझी, ज्यों की त्यों बनी रही। रामकथा तो इतनी रसमई होती है कि उसे सुनते समय व्यक्ति अपनी भूख–प्यास सब कुछ भूल जाता है। पर हनुमानजी को ऐसी कोई अनुभति नहीं हुई।

हनुमानजी जल पीने के लिए सरोवर के निकट पहुँचे और जब उसमें प्रवेश करने लगे तो एक मकरी ने उनका चरण पकड़ लिया। हनुमानजी उसे जब मारने लगे तो मकरी ने कहा– "चरण पकड़ने वाले को मारा जाता है या आशीर्वाद दिया जाता है ?" हनुमानजी ने कहा– "अगर कोई खाने के लिए चरण पकड़ रहा हो, तो उसे मारना ही उचित है।" इस पर मकरी ने कहा– "आप जिसका चरण पकड़ने जा रहे हैं, जिससे दीक्षा लेने जा रहे हैं, वह भी कोई साधु–महात्मा न होकर एक मायावी राक्षस है।

मुनि न होइ यह निसिचर घोरा।
मानहु सत्य बचन कपि मोरा।।६/५७/२

अतः आप सावधान हो जाएँ।"

हनुमानजी वापस गए तो मुनि वेशधारी कालनेमि ने पूछा– "स्नान करके आ गए बंदर ?" हनुमानजी ने कहा– "हाँ, हाँ ! दीक्षा लेने की पूरी तैयारी करके आ गया हूँ। पर मैं चाहता हूँ कि पहले आपको दक्षिणा दे दूँ, और फिर उसके बाद दीक्षा लूँगा।" ऐसा कहकर हनुमानजी ने–

सिर लंगूर लपेटि पछारा।६/५७/५

पूंछ लपेटकर उसे पटक दिया। असली कथा वाचक के इस कार्य से उस नकली कथावाचक को बड़ा सुन्दर फल प्राप्त हुआ। गोस्वामीजी कहते हैं कि–

निज तन प्रगटेसि मरती बारा।६/५७/५

उसका कपट छूट गया और उसका असली रूप सामने आ गया। क्योंकि संत के सानिध्य से प्रगट होने वाली भगवत्कथा की विशेषता ही यही है कि उससे व्यक्ति का कपट दूर हो जाता है। वस्तुतः रामकथा व्यक्ति को उसके वास्तविक रूप से साक्षात्कार कराती है।

संत रामकथा के माध्यम से भगवान की महिमा, उनके चरित्र और गुणों की अनगिनत रूपों में जब व्याख्या करते हैं, तो व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि वह अपनी सभी समस्याओं का हल भगवान से जुड़कर सरलता से पा सकता है।

भगवान में अनंतगुण हैं, उनकी कथा अनंत हैं, व्यक्ति जितना विस्तार देकर उनका वर्णन करना चाहे कर सकता है, पर फिर भी भगवान की कथा कभी समाप्त होने वाली नहीं है। इसलिए–

बहुत कहौं का कथा बढ़ाई।

विस्तार में न जाकर संक्षेप में यही कह सकते हैं कि भगवान की कथा को यदि हम सही अर्थों में कहें और सुनें तो हमारे जीवन के मोह और अभिमान अवश्य ही विनष्ट हो जाएँगे।

मैं अंत में बिरला दंपत्ति श्री बसंतकुमारजी बिरला तथा सौजन्यमयी श्रीमती सरलाजी बिरला एवं आप सब के प्रति मंगलकामना करता हुआ इस प्रसंग को विराम देता हूँ।

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल।
सो कृपालु मोहि तोहि पर रहउ सदा अनुकूल।।७/१२४

।।बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।।